हिन्दी
सहृदयानन्द

व्याख्याकार
पं० वाचस्पति द्विवेदी

चौखम्बा प्रकाशन

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१४८

महाकविश्रीकृष्णानन्दप्रणीतं

सहृदयानन्दम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

पं० वाचस्पति द्विवेदी

एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), एम० एड०, साहित्याचार्य

संस्कृत-विभागाध्यक्ष : महाराजा कालेज, आरा

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६८

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
148
*****

SAHṚDAYĀNANDA

OF

MAHAKAVI S'RĪKṚṢṆĀNANDA

Edited With
The 'Prakāśa' Hindī Commentary

BY

Pt. VĀCHASPATI DVIVEDĪ,
M. A. (Sanskrit-Hindi), M. Ed., Sāhityāchārya.,
Head of the Sanskrit Department, Maharaja college, Arrah.
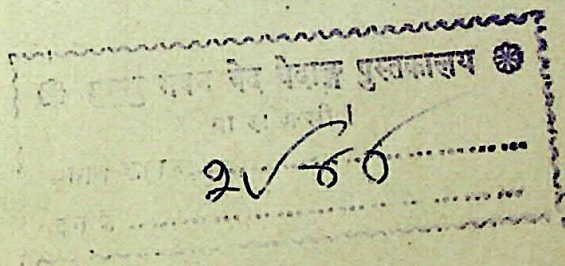
THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1968

First Edition
1968
Price Rs. 5–50

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Antiquarian Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi–1 (India)
Phone : 3145

वत्सलता-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी जननी

श्रीमती राधिका देवी

की

दिवंगत आत्मा के परितोष के निमित्त

सादर समर्पित

[मातुः श्रीराधिकादेव्याः स्वर्यातायाः कराम्बुजे ।
समर्पये कृतिं स्वीयां प्रथमां प्रीतये सदा ॥]

प्राक्कथन

इस पुस्तक का अनुवाद कार्य आज से तीन-साल पहले ही मैंने प्रारम्भ किया था। किन्तु कुछ वैयक्तिक उलझनों से प्रगति में बाधा पड़ी। इस वर्ष पूरी तत्परता से इसे पूरा कर लिया। इस पुस्तक की कोई संस्कृत-टीका भी उपलब्ध नहीं है, अतः कठिनाई थी। किन्तु पूज्य तातचरण (पं० श्री ब्रह्मदत्त जी द्विवेदी) के सान्निध्य से मुझे किसी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। जो कुछ है उन्हीं का है। 'तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।'

इसे विस्मृति के गर्भ से निकाल प्रकाशित कर चौखम्बा विद्याभवन ने निश्चय ही संस्कृत साहित्य को एक अनुपम ग्रन्थ भेंट किया है। हिन्दी अनुवाद हो जाने से हिन्दी वर्ग के पाठकों के लिए भी यह उपादेय बन गया है। परम्परा से प्रयुक्त ग्रन्थों के साथ इसका पठन-पाठन भी विद्वानों को निश्चय ही रुचिकर होगा।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में प्रिय शिष्य श्री राजेन्द्र पाठक एम० ए० ने बड़ा श्रम किया है। एतदर्थ उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

रामनवमी
वि० सं० २०२५

वाचस्पति द्विवेदी

विषय-सूची

भूमिका

कवि-परिचय

सहृदयानन्द महाकाव्य के रचयिता महाकवि कृष्णानन्द का जीवन संस्कृत साहित्य के अन्यान्य प्रमुख कवियों की तरह अज्ञात है। समय स्थानादि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इतना निश्चित है कि इनका जन्म कपिञ्जल कुल में हुआ जैसा कि इस महाकाव्य के अन्तिम श्लोक से विदित होता है।

"कृष्णानन्द कवेः कपिञ्जलकुलक्षीरोद शीतद्युतेः" आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के अष्टम परिच्छेद में सहृदयानन्द महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग के श्लोक—"सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वम्" को उद्धृत किया है। इससे विदित होता है कि ये आचार्य विश्वनाथ के पूर्ववर्ती हैं। साथ ही साथ इनकी उपाधि सांधिविग्रहिक महापात्र है, जो आचार्य विश्वनाथ की भी थी।

"सन्धिविग्रहे भवः सान्धिविग्रहिकः" यह राज्याधिकारी सूचक पद विशेष था, जिस पर केवल ब्राह्मण ही नहीं कोई भी नियुक्त किया जा सकता था। जैसा कि राजतरङ्गिणी के इस श्लोक से विदित होता है—

तन्मातुलेन तद्रोषाद् वीरनाथेन योगिना।
सांधिविग्रहिकेणाथ स स्वेनैव न्यगृह्यत॥

सान्धिविग्रहिक की चर्चा इंडियन ऐण्टीक्वेरी १५।१८८५ में भी की गई है। लिखितं सान्धिविग्रहाधिकृतदिविरपतिवर्यभट्टिना। दिविरकायस्थवाची शब्द है। क्योंकि ऐसा कहा गया है कि—

विना मद्यं विना मांसं परस्वहरणं विना।
विना परापकारेण दिविरो दिवि रोदिति॥

महाकवि कृष्णानन्द भी सांधिविग्रहिक के पद पर प्रतिष्ठित थे। किन्तु वह राज्य कौन सा था, किस राजा के सांधिविग्रहिक थे, कहना कठिन है। महापात्र उत्कल प्रदेश के ब्राह्मणों की उपाधि हैं। आचार्य विश्वनाथ भी उसी प्रदेश के थे। अतः इनकी जन्मभूमि भी पुरी के आसपास ही कहीं थी।

इनके समय के सम्बन्ध में निर्विवाद कुछ कहना असम्भव है। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने "नैषधीयचरितम्" की टीका भी की थी किन्तु आज वह

प्राप्य नहीं है। यदि यह ठीक है तो महाकवि कृष्णानन्द महाकवि हर्ष के परवर्ती एवं आचार्य विश्वनाथ के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

कथा की प्राचीनता—नल-कथा की प्रसिद्धि प्राचीन काल से ही है। रामायण एवं महाभारत में इस कथा का पूर्णतः उल्लेख है। वाल्मीकीय रामायण में रावण की ओर से सीता को डरानेवाली राक्षसियों को सीता ने प्रत्युत्तर में कहा था—

नैषधं दमयन्तीव भैमी पतिमनुव्रता।
तथाहमिक्ष्वाकुवरं रामं पतिमनुव्रता॥

वा. रा. सु. का. २४६-१३

महाभारत में तो "नलोपाख्यानम्" एक पूरा उपाख्यान ही है। पुराणों में भी इनकी चर्चा हुई है। दशम शती के प्रारम्भ में त्रिविक्रम भट्ट ने नलचम्पू की रचना की है। किन्तु काव्य-जगत् में महाकवि श्री हर्षरचित "नैषधीय-चरितम्" की मनोमुग्धकारिणी रसाभिव्यञ्जना, भावप्रवणता एवं कल्पना-तिशयिता ने सभी को चमत्कृत कर दिया। इस निर्झरिणी में नल-दमयन्ती की कथा पर आदृत पूर्वरचित काव्य समाहित हो गये। उत्तर काल की रचनाएं भी नैषध के प्रखर प्रकाश के समक्ष आभाहीन हो जनमानस पर कोई स्मृतिचिह्न न छोड़ सकीं। यही कारण है कि महाकवि कृष्णानन्द रचित "सहृदयानन्दम्" महाकाव्य भी समादृत न हो सका और क्रमशः विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया।

"नैषधीय चरितम्" की विशिष्टता एवं ख्याति जानकर भी कवि निरुत्साहित नहीं हुआ। वह प्रारम्भ में ही स्पष्ट कह देता है कि प्राचीन कवि हमारे इस प्रयास पर क्रुद्ध न हों। मैं किसी स्पर्धा के कारण इसकी रचना नहीं कर रहा हूँ।

अत्रेतिवृत्ते रचितप्रबन्धे क्रुद्धो मुधा मास्तु कविः पुराणः।
न स्पर्धया व्योम्नि सहस्रधाम्नः खद्योतकः स्वां द्युतिमातनोति॥१-७॥

इस महाकाव्य की रचना के पीछे कवि का एक विशेष अभिप्राय भी विदित होता है। महाकवि हर्ष की क्लिष्ट भाषा एवं कल्पना की गुत्थियों को सुलझा पाना सब के वश की बात न थी। स्वयं महाकवि हर्ष ने कहा—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञ मन्यमना हठेन पठितिं मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थि समासादय-
त्वेतत्-काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥

महाकवि अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतः सफल रहा।

नैषध की ग्रन्थियों को सुलझा पाना सब के वश की बात नहीं अतः महाकवि कृष्णानन्द ने सरल सुबोध भाषा में आलङ्कारिकता के स्थान पर सहज स्वाभाविकता को अपनाया।

जहाँ नैषध के २२ सर्गों में नल के विवाह पर्यन्त ही कथा वर्णित है वहां सहृदयानन्द के पन्द्रह सर्गों में ही उनकी सम्पूर्ण कथा निबद्ध है। जहा नैषधकार ने एक-एक प्रसङ्गों के वर्णन में समूचा सर्ग लगा डाला है वहां इन्होंने संक्षिप्त सरणि अपनाकर काव्य को बोझिल नहीं बनाया। हृदयस्पर्शी काव्यमय वर्णन इतिवृत्त के प्रवाह में अवरोध नहीं लाते, प्रत्युत उसे गतिशील बनाते हैं। महाकवि हर्ष द्वारा विस्तृत रूप से वर्णित बहुत से प्रसङ्गों का कवि श्री कृष्णानन्द ने सामान्य निर्देश-मात्र किया है। जहां नैषध में स्वयंवर के वर्णन में समूचा सर्ग लग गया है वहां कवि केवल चर्चा मात्र कर आगे बढ़ जाता है। ऐसा लगता है कि कवि हर्ष द्वारा वर्णित स्थलों को जान-बूझ कर छोड़ देता है। ऐसा करना उचित ही था। क्योंकि वह महाकवि के भावों का चर्वितचर्वण करना नहीं चाहता था। साथ ही साथ हो सकता था कि उन वर्णनों की तुलना में ये फीके पड़ जाते। नैषध विद्वज्जनों से समादृत हो चुका था अतः जानबूझ कर अपनी प्रतिष्ठा को संशय में न डालना उचित ही था। अतः महाकवि कृष्णानन्द ने अन्य नवीन प्रसङ्गों की उद्भावना कर उसमें अपनी कवित्वप्रतिभा का प्रदर्शन किया है। यद्यपि चन्द्रोपालम्भ आदि कुछ वर्णन दोनों में समान हैं किन्तु वे नैषध की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सके हैं।

यद्यपि "सहृदयानन्दम्" की कथा महाभारत के "नलोपाख्यानम्" से ही ली गई है, फिर भी कवि ने इसे अधिक रोचक, सजीव एवं विश्वसनीय बनाने के लिए जहाँ तहाँ हेर फेर किये हैं।

"नलोपाख्यानम्" के अनुसार नल पक्षी को पकड़ने के लिए अपना वस्त्र उस पर फेंकते हैं। पक्षी वस्त्र सहित उड़ जाता है। तदनन्तर नल सोती हुई दमयन्ती की आधी साड़ी फाड़ उसे लपेट, दमयन्ती को सोती हुई छोड़ चल देते हैं। किन्तु इस के विपरीत इस में नल एवं दमयन्ती दो पक्षियों का पीछा करते हुए अलग-अलग दिशा की ओर चले जाते हैं। वहाँ वे मार्ग भूल कर परस्पर वियुक्त हो जाते हैं। "नलोपाख्यानम्" में सर्प दमयन्ती को पकड़ लेता है। एक व्याध उस का वध कर दमयन्ती पर अत्याचार करना चाहता है, किन्तु वह दमयन्ती के शाप से भस्म हो जाता है। "सहृदयांनन्दम्" के अनुसार सर्प के मुख को एक गुफा समझ दमयन्ती उस में प्रवेश कर जाती है। "नलोपाख्यानम्" के अनुसार दमयन्ती का पुनः स्वयंवर रचा जाता है उसी में नल भी सारथी के रूप में उपस्थित होते हैं। किन्तु इस महाकाव्य के अनुसार पुनः स्वयंवर नहीं

रचा जाता बल्कि दमयन्ती की चिता सजती है, जिसमें वह प्राणोत्सर्ग करना चाहती है। इससे दमयन्तो के चरित्र का उत्कर्ष तो द्योतित होता हो है, साथ ही कथा में नाटकीयता भी आ जाती है।

सहृदयानन्द की कथा

इस महाकाव्य की कथा पूर्णतया महाभारत के "नलोपाख्यानम्" से मिलती जुलती है। आदि से अन्त तक घटनाओं का क्रम प्रायः वही है। "नैषधीय चरितम्" में केवल नल-दमयन्ती के विवाह तक की ही कथा है। इसे इस कथा का पूर्वार्द्ध कहा जा सकता है। किन्तु उत्तरार्द्ध की कथा, जो किसी भी महाकाव्य के इतिवृत्त के लिए अपेक्षित है, नैषध में नहीं मिलती।

"सहृदयानन्दम्" इस दोष से परे है। इसमें नल के जन्म से लेकर दमयन्ती से पुनर्मिलन तक की कथा आबद्ध है। इस सम्पूर्ण कथा के वर्णन में कवि ने केवल पन्द्रह सर्ग लगाये हैं।

प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में परम्परा का निर्वाह करते हुए कवि ने पहले खल-निन्दा एवं सज्जन-प्रशंसा की है। तदनन्तर नल के पिता वीरसेन का परिचय देते हुए कवि ने नल का जन्म, बालक्रीड़ा, शिक्षा एवं आखेट का संक्षिप्त वर्णन किया है। शिकार के क्रम में नल की भेंट हंस से होती है। हंस अपना परिचय देता हुआ कहता है कि मैं ब्रह्मा का विमानवाहक हूँ। मैंने स्वर्ग में भी देवताओं के द्वारा आप का यशोगान सुना है।

हंस केवल उनका कोई अभीष्ट सिद्ध करने का वचन दे चला जाता है। दमयन्ती की कोई चर्चा नहीं होती। राजा वीरसेन नल का राज्याभिषेक कर संन्यास ले लेते हैं। यहीं प्रथम सर्ग समाप्त होता है।

द्वितीय सर्ग में हंस पुनः उपस्थित होकर स्वर्ग के एक रोचक प्रसङ्ग का वर्णन करता है। इन्द्र कामदेव से विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के बारे में पूछते हैं। कामदेव दमयन्ती का नाम लेता है।

तृतीय सर्ग में उसी प्रसङ्ग का वर्णन करते हुए हंस कहता है कि कामदेव के कथन की सत्यता की परख के लिए वह विदर्भ जाकर दमयन्ती को देखता है, वहीं वह यह भी जान लेता है कि विवाह के लिए लाये गये विभिन्न राजाओं के चित्र में दमयन्ती नल के चित्र की ओर ही आकृष्ट हुई। इसी क्रम में कवि दमयन्ती का विरहवर्णन भी करता है। हंस दमयन्तो से स्पष्ट शब्दों में जान लेता है कि वह नल की ओर ही आकृष्ट है। हंस दमयन्ती से प्रदत्त मोतियों की माला को लाकर नल को दे देता है।

चतुर्थ सर्ग में नल का विरह-वर्णन है। पंचम सर्ग में नल स्वयंवर में भाग लेने चल पड़ते हैं। मार्ग में उनकी भेंट देवताओं से होती है। देवता उन्हें

अपना दूत बनाकर दमयन्ती के पास भेजते हैं। किन्तु फल कुछ भी नहीं निकलता। देवता यह जानकर स्वर्ग लौट जाते हैं। स्वयंवर में दमयन्ती नल का वरण करती है।

षष्ठ सर्ग में नल दममन्ती के साथ अपनी राजधानी में लौट आते हैं।

सप्तम सर्ग में हंस पुनः आता है। वह राजधर्म का उपदेश देता है। जल-विहार का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन है।

अष्टम सर्ग में कलि छद्मवेशी तपस्वी का रूप धारण कर नल के भाई पुष्कर के समीप आकर उससे नल का विरोध करने का आग्रह करता है। कलि के आदेशानुसार वह नल के साथ जुआ खेलता है। जुए में नल हार जाते हैं और वे राज्य छोड़कर दमयन्ती के साथ बन की ओर प्रस्थान करते हैं।

नवम सर्ग में राजा का वनगमन वर्णित है। नल दमयन्ती से पितृगृह लौटने का वर्णन करते हैं। किन्तु वह किसी भी तरह साथ छोड़ने को तैयार नहीं हाती।

दशम सर्ग के आरम्भ में दमयन्ती को पूर्व संस्कार वश वन में भी राज-सुख का भ्रम हो रहा है। वह अपने पूर्वानुभूत सुख-सुविधाओं को याद करती हुई प्रलाप करती है।

वन में भी इन दोनों को साथ-साथ देखकर कलि ने अपना प्रयास निरर्थक माना। वह अपने मित्र द्वापर के साथ मन्त्रणा कर स्वर्णनिर्मित पंख वाले पक्षी का रूप धारण कर दमयन्ती के सामने उपस्थित हुआ। दोनों उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे-पीछे चल पड़े। कुछ दूर जाने पर दोनों पक्षी विपरीत दिशा की ओर चले नल एवं दमयन्ती भी एक-एक का पीछा करते हुए अलग-अलग दिशा की ओर चले गये, जहाँ वे रास्ता भूल बैठे। इस प्रकार कलि उन दोनों को वियुक्त करने में सफल हो गया।

एकादश सर्ग में नल की विरहदशा का वर्णन है। नल को शीघ्र ही अपनी भूल मालूम हुई। बहुत प्रयास करने पर भी वे दमयन्ती को खोज पाने में सफल नहीं हुए। दमयन्ती भी रास्ता भूल कर भटकती हुई अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगी। वह एक अजगर के मुख को पर्वत की गुफा समझ उसमें प्रवेश कर जाती है। किन्तु उसी समय किरातों का एक दल उधर आकर उसका उद्धार करता है। एकादश सर्ग यहीं समाप्त होता है।

किरात उसे मरा हुआ समझ छोड़कर चले जाते हैं। इसी बीच एक तपस्वी वहां आकर उसका उपचार करता है। तपस्वी उसे पुनः पतिप्राप्ति का आश्वासन दे चला जाता है। दमयन्ती, पर्वत, नदी, पशु, पक्षी सभी से नल के बारे में पूछती है। एक रात वह एक पथिक दल के साथ ठहरी थी। एका-एक

मत्त हाथियों का दल उधर आया और उसने सब को रौंद डाला। दमयन्ती किसी तरह बच जाती है। वह सुबाहु राजा के यहां ठहरती है। यह समाचार पाकर विदर्भ नरेश दमयन्ती को अपने घर ले जाते हैं, एवं नल का पता लगाने के लिए चारों ओर दूत भेजे जाते हैं।

त्रयोदश सर्ग के आरम्भ में भीषण दवाग्नि का वर्णन है। नल इस आग में दमयन्ती के जल मरने की आशङ्का से और भी दुखी हो जाते हैं। इसी बीच उनकी एक सर्प से भेंट होती है। वह उन्हें अपने साथ चलने के लिए कहता है। साथ चलते हुए नल को वह काट लेता है, जिससे वे श्याम वर्ण के हो गये। सर्प ने उनसे कहा कि आपको कोई पहचान न सके इसलिए मैंने ऐसा किया। उसने नल को एक वस्त्र दिया जिसके स्पर्श से वे पुनः अपना पूर्व रूप प्राप्त कर सकेंगे।

चतुर्दश सर्ग में राजा नल के अयोध्या-प्रवेश का वर्णन है। वे अपना नाम बाहुक रख राजा ऋतुपर्ण के यहाँ मंत्रिपद ग्रहण करते हैं। वर्षाकाल का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन इस सर्ग में किया गया है। राजा भीम का एक दूत भी नल को खोजता हुआ उन के साथ ही ठहरता है। बाहुक पर उसे कुछ सन्देह होता है। वह समाचार देने के लिए भीम के पास जाता है। पुनः उनकी भेंट एक सारथी से होती है, जिससे नल को दमयन्ती का कुशल समाचार विदित होता है।

पञ्चदश सर्ग इस महाकाव्य का अन्तिम सर्ग है। राजा ऋतुपर्ण का एक दूत कुण्डिन नगर से आकर यह समाचार देता है कि नल के न मिलने से निराश हो दमयन्ती परसों चिता में जल जायगी। ऐसा जान कर राजा ऋतुपर्ण कुण्डिन नगर पहुँचने की उत्सुकता व्यक्त करते हैं। किन्तु इतने कम समय में उतनी दूरी तय करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। बाहुक नामधारी नल उन्हें रथ हाँककर समय रहते ही कुण्डिन नगर पहुँचाने का आश्वासन देते हैं। ऋतुपर्ण यथा समय कुण्डिन नगर पहुँच जाते हैं। सर्प द्वारा दिये गये वस्त्र के स्पर्श से राजा पुनः अपना पूर्व रूप प्राप्त कर प्रकट होते हैं। इस प्रकार नल एवं दमयन्ती का पुनर्मिलन होता है। राजा नल पुष्कर को जुए में हरा कर पुनः राज्य लाभ करते हैं।

महाकाव्यत्व

संस्कृत साहित्य के आलङ्कारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के सभी आवश्यक तत्त्व इस महाकाव्य में उपलब्ध हैं। यह महाकाव्य पन्द्रह सर्गों में विभक्त है। इसके नायक धीरोदात्तादि गुणयुक्त सद्वंशोत्पन्न क्षत्रिय राजा नल हैं। नल एवं

दमयन्ती की प्रख्यात कथा इसमें वर्णित है। अतः इतिवृत्त "इतिहासोद्भव" है। शृङ्गार रस की प्रधानता है। प्रारम्भ स्तुति से किया गया है। सज्जन प्रशंसा एवं खल निन्दा भी वर्णित है। सर्ग की समाप्ति पर छन्द बदल दिये गये हैं। सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, पर्वत, वन, सागर आदि का वर्णन है। प्रत्येक सर्ग का अलग-अलग नामकरण किया गया है। इस प्रकार महाकाव्य के सभी आवश्यक तत्त्व इसमें विद्यमान हैं।

आचार्यों ने काव्य के कथानक में भी नाटक के पात्रों, अर्थप्रकृतियों, कार्य की सभी अवस्थाओं एवं पञ्चसन्धियों का होना आवश्यक माना है। इस महाकाव्य में नल के जीवन के आद्योपान्त घटनाक्रमों में अर्थप्रकृति, कार्यावस्था एवं सन्धियां उपलब्ध हैं।

नायक—नल धीरोदात्त नायक हैं। बाल्यकाल से ही इनके विशिष्ट गुण दिखाई देने लगते हैं। इनके नामकरण के सम्बन्ध में कवि अनोखी कल्पना करता है।

> लब्धार्थकामार्जन-कोविदत्व-
> मयं न लीयेत कदापि पापे।
> इतीव निश्चित्य गुरुर्निमित्तै-
> श्चकार नाम्ना नलमात्मजं तम् ॥१–२४॥

हंस के द्वारा दमयन्ती के अपूर्व सौन्दर्य का पता चलने पर ही वे उसकी ओर आकृष्ट नहीं हो जाते। हंस नल को सूचित करता है कि दमयन्ती उनके चित्र को देखकर पहले से ही उनकी ओर अनुरक्त है। वह हंस दमयन्ती से एक मोतियों का हार लाकर नल को अर्पित करता है। यहीं से नल के मन में दमयन्ती के प्रति अनुराग अङ्कुरित होता है। वे उस मोती की माला को देखकर कह उठते हैं—

> सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
> मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः।
> बाणैः स्मरस्य शतशोऽपि निकृत्तमर्मा
> स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥ ३–५२॥

इस श्लोक को आचार्य विश्वनाथ ने भी अपने साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। देवताओं के द्वारा दूत कार्य सौंपे जाने पर उसका उन्होंने शुद्ध हृदय से निर्वाह किया, जिसकी प्रशंसा देवताओं ने भी की।

> सुरास्तु तां निश्चितचित्तवृत्तिं विशुद्धवृत्तं निषधेश्वरं च।
> वरैरुभौ प्रत्यभिनन्द्य भूयो दिवं ययुर्म्लान मुखप्रकाशः ॥५–४८॥

नल पुष्कर के साथ द्यूत-क्रीड़ा में हार जाते हैं। इस अप्रत्याशित विपत्ति में भी वे विचलित नहीं होते। सामर्थ्यवान् होने पर भी वे अनीति द्वारा राज्य छीनना नहीं चाहते। प्रसन्न मन वन की ओर प्रस्थान करते हैं।

दोर्दण्डलीलया लक्ष्मीं प्रत्याहर्तुमपि क्षमः।
नैषधः समयाकांक्षी न चक्रे विक्रमोदयम् ॥ ८-६९ ॥

वन में भी वे दमयन्ती के साथ प्रसन्न हैं। किन्तु उन्हें क्या पता था कि विपत्तियों का अन्त अभी नहीं हुआ। वे दमयन्ती से भी वियुक्त हो जाते हैं। अप्रत्याशित विपत्तियों से वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ से हो जाते हैं।

इति तत्र वनोदरे नलः प्रबलश्वासविधूसराधरः।
सुचिरं परिचिन्तयन्नपि प्रतिपेदे न विधेयनिश्चयम् ॥ ११-१३ ॥

आंसुओं की धारा बह चली—

वहु तत्र विलप्य बाष्पवारां पृषतैर्निष्पतितैर्वनस्थलीषु।
नवमेघजलाभिषेकतः प्रागपि सौरभ्यमुदीरयन्नरेन्द्रः ॥१३-२॥

इस प्रकार विपत्ति के महासागर में डूबते हुए भी नल कर्त्तव्यमार्ग पर बढ़ते हुए पुनः दमयन्ती एवं राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करने में सफल हुए।

रस—महाकाव्य में एक रस प्रधान होता है। अधिकांश महाकाव्यों के समान इसमें भी शृङ्गार रस प्रधान है। अङ्ग रूप से अन्य रसों का भी समावेश है, किन्तु वे अत्यन्त गौण हैं। शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन है। नैषध के समान इसमें भी विप्रलम्भ पक्ष पहले आया है, सम्भोग बाद में। विप्रलम्भ में केवल शृङ्गार की पूर्णता ही अभिव्यक्त नहीं होती, बल्कि तज्जनित कोमल भावनाओं के आकलन में कवि-प्रतिभा की परीक्षा भी होती है। कवि का अन्तर्मन जितना ही संवेदनात्मक होगा उतना ही वह अपनी भावनाओं को मूर्त रूप देने में समर्थ होगा। महाकवि कृष्णानन्द ने बड़ी कुशलता से शृङ्गार के दोनों पक्षों का चित्रण किया है।

इनकी सब से बड़ी विशेषता है, संतुलन एवं समन्वय की। एक ओर जहां विद्वानों के हृदयविलास "नैषधीयचरितम्" का सामना करना था, जो अपनी भाषा की प्रौढ़ता एवं उक्ति वैचित्र्य के कारण पूर्ण प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था, वहीं दूसरी ओर उन्हें उस वर्ग के पाठक की भी चिन्ता थी जो अपनी अल्पज्ञता के कारण रस के महासागर के किनारे खड़ा तरस रहा था। गूढ़ भावों को हृदयङ्गम करना सामान्य पाठक के लिए सम्भव न था। ऐसे पाठक के लिए भाव एवं भाषा की सरलता अपेक्षित थी। अतः महाकवि कृष्णानन्द ने सरलता एवं क्लिष्टता को समन्वित कर सर्वजनवेद्य बनाने का स्तुत्य प्रयास किया।

इनकी दूसरी विशेषता है सर्वत्र संतुलन की। महाकवि श्री हर्ष काव्यरस प्रवाह में बहते हुए अपना नियन्त्रण खो बैठते हैं। उनकी कल्पना उन्हें खींच कर बहुत दूर ले जाती है। उन्हें भी इसका अनुभव हुआ। क्योंकि समय-समय पर वर्णनों के क्रम में यह स्वीकार करते हैं कि इसमें मेरा दोष नहीं बल्कि विषय ही ऐसा है जो मुझे खींचकर अपनी ओर ले आता है।

वागूजन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्।
खलत्वमल्पीयसि जल्पिते तु तदस्तु वन्दिभ्रमभूमितैव ॥

अतएव छोटे-छोटे अवसरों का भी वे विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इससे स्वाभाविकता नष्ट हो गई एवं अतिशयोक्तिपूर्ण उक्तियों से काव्य बोझिल हो उठा।

किन्तु महाकवि कृष्णानन्द ने सर्वत्र काव्य पर अपना नियन्त्रण रखा। वर्णन छोटे होते हुए भी मार्मिक हैं। सर्वत्र स्वाभाविकता की अमिट छाप है। कहीं भी कलावादी मनोवृत्ति दिखाई नहीं देती। न तो अनावश्यक यमक अनुप्रासादिकों का प्रदर्शन है, न सर्वशास्त्रज्ञता की अहमन्यता। काव्य का विषय स्वयं काव्य है, विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान नहीं। किन्तु कुछ काव्य, काव्य से अधिक शास्त्र बन गये हैं यह दोष न्यूनाधिक अधिकांश महाकवियों में है। किन्तु महाकवि कृष्णानन्द इस दोष से नितान्त अस्पृष्ट हैं। सामान्य लोकज्ञान के अतिरिक्त कहीं भी शास्त्र विशेष के विषयों का सन्निवेश नहीं है।

इस सन्दर्भ में इनकी सबसे बड़ी विशेषता एवं उपलब्धि हम इनके मर्यादित शृङ्गार वर्णन को मानते हैं। शृङ्गारी कवियों का शृङ्गार वर्णन जहाँ अधिकांशतः अपना प्रच्छन्न रूप त्याग स्थूल बन शील को चुनौती देता हुआ जुगुप्सा व्यञ्जक हो गया है, वहीं इनका शृङ्गार अवगुण्ठनवती रमणी के समान सौन्दर्य-पिपासु के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया है। क्षणिक उन्मेष मात्र से पाठक रसविभोर हो जाता है। इतनी प्रसिद्ध प्रेमकथा का वर्णन करते हुए भी कवि कभी भी शील का अतिक्रमण नहीं करता। रूप लावण्य काम का प्रथम सोपान है। दमयन्ती के अपूर्व सौन्दर्य का वर्णन स्वयं कामदेव इस प्रकार करता है—

सुधामयूखेऽपि कलङ्कदूषिते
प्रदोषसंकोचिषु पङ्कजेषु।
विलज्जितः शिल्पमदोद्धुरो विधि-
र्व्यधत्त तस्याः कमनीयमाननम् ॥ २-५० ॥

उसके नेत्रों की तुलना तभी हो सकती है जब—

कुरङ्गमुत्सङ्गशयं शरद्विधुर्विधूय धत्ते यदि तद्दृशोः पदम्।
मृगेक्षणायाश्चटुलाक्षमाननं तदा निकामं तुलनामुपैष्यति ॥२-५१॥

स्तनों की कठोरता एवं हाथों की कोमलता दोनों की सहस्थिति कैसे संभव है ? इस पर कवि की अनोखी कल्पना है—

इमौ मृदू निर्भरमस्मि कर्कशं
स्थितिः सहाभ्यां मम नैव साम्प्रतम्।
इतीव तस्याः परिणाहसंपदा
भुजौ विदूरं नुदति स्तनद्वयम् ॥ २-५४ ॥

त्रिवली की उपयोगिता क्या है ?

विधाय मध्यं सुतनोस्तथा तनुं बभूव तद्भङ्गभयाकुलो विधिः।
यदेष पश्चात्त्रिवलीमिषादमुं चकार हैमैर्वलयैर्वृतं त्रिभिः ॥

नितम्बों की पृथुता का वर्णन इस प्रकार है—

किमुच्यतेऽस्याः प्रथिमा नितम्बयो-
र्यदत्र दृष्टिः पतिता विलासिनाम्।
चिरं परिभ्रम्य कुतूहलाद् भृशं
भ्रमादिवान्यत्र न गन्तुमिच्छति ॥ २-५८ ॥

जल-विहार करती हुई नायिकाओं को देख पक्षियों को भी मछली का भ्रम हो रहा है।

गगनैकदेशमयमास्थितश्चिरं
स्थिरदृष्टिरम्भसि निमज्ज्य सत्वरः।
तव सुभ्रु लोचनविलासतस्करं
शफरं मुखेन दधदुत्थितः खगः ॥ ७-४१ ॥

जहाँ कहीं भी अवसर मिला है इन्होंने अपना ध्यान दमयन्ती के रूपवर्णन पर ही रखा है। नल की ओर मात्र संकेत कर आगे बढ़ जाते हैं। जहाँ दमयन्ती के प्रत्येक वस्त्राभुषण का कवि वर्णन करता है, वहाँ नल के बारे में केवल इतना ही कहता है—

अथ प्रयुक्तं निपुणैः प्रसाधकैर्नलोऽपि यं वेषविशेषमग्रहीत्।
अवर्धयत्तस्य स कान्तिसंपदं तुषारभानोः शरदेव संगमः ॥६-२०॥

नल का वर्णन कवि ने प्रत्यक्ष नहीं अपितु अप्रत्यक्ष रूप से किया है। नल का सौन्दर्य देख गवाक्ष पर स्थित सुन्दरियाँ मोहित हो गयीं। उनकी उस अवस्था का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण कवि ने किया है।

कोई नायिका अपने पति के साथ बैठी थी। वह नल को पूर्णतः नहीं देख पा रही थी। अतः अपने कंगन में प्रतिबिम्बित नल को ही देखती रही। कोई अपने गालों पर नल का ही चित्र बनाने लगी।

नलस्य कान्त्या हृतमानसापरा वधूर्विधित्सुर्मकरीं कपोलयोः।
तमेव शश्वल्लिखती ससम्भ्रमं सखीजनैः पार्श्वगतैर्न्यषिध्यत ॥६-३०॥

राजमार्ग पर नल के अदृश्य हो जाने पर भी नायिका की दृष्टि उसी ओर लगी रही जिधर वे गये थे। किसी ने देखने की उत्सुकतावश काजल को आंखों के बदले गालों पर ही लगा लिया।

वधूर्दृशौ रञ्जयितुं समुत्सुका
निवेश्य कालाञ्जनमङ्गुलीमुखे।
त्वरावशान्तः परिलिप्य गण्डयो-
र्बहिर्गता कापि जनानहासयत् ॥ ६-३३ ॥

इस प्रकार नल के रूप की मोहकता नायिकाओं की इन चेष्टाओं से ही स्पष्ट है।

शृङ्गार रस का परिपाक विप्रलम्भ शृङ्गार में ही होता है, उसकी व्याप्ति सर्वाधिक है। पूर्वराग से मिलन पर्यन्त इसकी धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रहती है।

नल-जीवन के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध के घटना-क्रम विप्रलम्भ शृङ्गार के लिए पूर्ण अवसर देते हैं। महाकवि श्री हर्ष ने तो वियोग की सभी अवस्थाओं का वर्णन किया है।

किन्तु महाकवि कृष्णानन्द ने काम की चेष्टाओं एवं विरह-दशाओं का शास्त्रीय पद्धति पर कोई उद्धरणी नहीं बनाई है अपितु काव्योपयोगिता को ध्यान में रख सहज रूप से जो आ गये हैं उन्हें ही कवित्वशैली में प्रस्तुत किया है।

दमयन्ती की विरहदशा का चित्रण करता हुआ कवि कहता है कि प्रबल ताप के भय से श्वासानिल दूर भाग जाते हैं। आंसुओं की तरंग में डूबने के भय से निद्रा आंखों के पास नहीं आ रही है।

एणीदृशः प्रबलतापभयादिवास्याः
श्वासानिलाः प्रतिमुहुः प्रसरन्ति दूरम्।
बाष्पाम्बुवीचिषु निमज्जनकातरेव
निद्रा दृशोर्न सविधेऽपि पदं विधत्ते ॥ ३-२० ॥

हाथ के कङ्कन गिर क्यों पड़े ?

एषा निसर्गसुकुमारतनूविशेषात्
क्षामा स्मरेण विषहेत कथं भरं मे।
इत्थं विचिन्त्य किमु निर्गलितं कराभ्यां
क्षोणीतले लुठति कङ्कणयुग्ममस्याः ॥ ३-२३ ॥

इस महाकाव्य में कवि ने नल के द्वारा चन्द्रोपालम्भ का वर्णन किया है। सर्प के विष से दूषित हो मलयानिल जला सकता है, किन्तु चन्द्रमा क्यों जला रहा है ?

दहतु नाम सखे मलयानिलः कवलनात् फणिनां विषदूषितः।
अमृतदीधितिरेष सुधामयैरपि करैर्दहतीति महाद्भुतम् ॥४-१५॥

क्योंकि—

हिमरुचिर्दहतीति किमद्भुतं बहिरसौ विशदः कलुषो हृदि।
अबुध एष जनस्तु यदीदृशादपि सुखाधिगमाय समुत्सुकः ॥४-२०॥

इसलिए नल हंस से प्रार्थना करते हैं कि वह चन्द्रमा को ढोकर दूर ले जाय—

शशिनमंसतटे विनिवेश्य वा नय सखे चरमाचलकंदरम्।
तव विरञ्चिविमानकधुर्यतामुपगतस्य भविष्यति कः श्रमः ॥४-२२॥

वियोग की अपेक्षा संयोग के स्थल कम हैं। जितनी तत्परता कवि ने वियोग के चित्रण में दिखाई उतनी संयोग में नहीं। फिर भी अन्यत्र की भांति संयोग वर्णन भी भावपूर्ण हैं। नल को प्राप्त कर दमयन्ती कितनी प्रसन्न होती है। इसका वर्णन देखिए—

ततो निदाघप्लवितेव मेदिनी नवाम्बुवाहैर्विहिताभिषेचना।
प्रशान्तसन्तापभरा सुमध्यमा प्रमोदजालं विदधे विदर्भजा ॥१५-५५

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति के फैले हुए विशाल प्राङ्गण में ही मनुष्य जन्म लेकर जीवन पर्यन्त कर्म करता हुआ अन्ततः प्रकृति में ही विलीन हो जाता है। अतः प्रकृति मानव की चिर सहचरी है। वह हमेशा उसके अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसके रहस्यों को जानने का प्रयत्न करता आया है। काव्य में प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत रखा गया है। किन्तु अब तो प्रकृति स्वतन्त्ररूपेण काव्य का साध्य बन गई।

वन-उपवन में पुष्पों से लदे वृक्षों की हरियाली, बहते हुए जलस्रोत, नदी-प्रवाह एवं महासागर की उत्ताल तरङ्गों को देख मन में उठनेवाली अनुभूतियों

को भला कौन बांध सका है। वह तो स्वयं आत्मतत्व के समान अन्तःकरण से ही ग्रहणीय है। कवियों ने अपनी प्रतिभा के अनुसार उसका भी चित्र खींचा है। जब काव्य जीवन का प्रतिविम्ब है तो भला उसमें प्रकृति कैसे उपेक्षित रहती।

महाकवि कृष्णानन्द का प्रकृति-वर्णन अत्यन्त सजीव, स्वाभाविक एवं चित्र-मय है।

प्रभात वर्णन—प्राची में फैली उषा की लाली पर कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

दिशं प्रतीचीं परिरभ्य चन्द्रे दरीगृहं गच्छति पश्चिमाद्रेः।
बभार बालारुणरश्मिशोणं प्राचीमुखं कोपकषायितेव ॥५-६॥

चन्द्रमारूपी हंस तारे रूपी अपने शिशुओं के साथ रात बिता कर अब अस्ता-चल पर जा रहा है। चन्द्रमा जब चमकीला है तो उसके बच्चों में भी चमक का होना स्वाभाविक ही है।

सुतैरिव स्वैरुडुभिः सहैव नभोङ्गणे यामवतीमतीत्य।
विहर्तुकामश्चरमाद्रिवेलां शनैः प्रपेदे तुहिनांशुहंसः ॥५-१०॥

कोई भंवरा कुमुदिनी में बन्द हो गया है, क्यों ?

मधूनि पीत्वा क्षणदामिदानीमदक्षिणोऽयं नलिनीमुपैति।
इतीव सेर्ष्या निजकोषमध्ये कुमुद्वती कापि बबन्ध भृङ्गम् ॥५-१४॥

मध्याह्न का ऐसा वर्णन शायद ही कहीं और हो—

मध्याह्न में वृक्षों की छाया सिमट क्यों गई है ?

रवेः करैस्तापजुषां जनानां तापापनोदाय न मेऽस्ति शक्तिः।
इतीव लज्जा विधुरा तरूणां छाया भृशं संकुचिता बभूव ॥६-१८॥

सायङ्कालिक अरुणिमा का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन है।

शृङ्गारयन्तीव मतङ्गजानां मुखानि सिन्दूररजोभरेण।
पाण्डुच्छदानामिव पल्लवौघमुल्लासयन्तीव महीरुहाणाम् ॥६-३६॥
प्रसूयमानेव जपाप्रसूनैः संवर्धमानेव मुखैः कपीनाम्।
बालप्रवालप्रतिमल्लरोचिर्दिनान्तसन्ध्या जगतीमरुद्ध ॥६-७०॥

और भी—

अथ समजनि सन्ध्या भिद्यमाना तमिस्रै-
र्दरपरिणतजम्बूराजिनीलारुणश्रीः।
अविरलमुदयद्भिस्तारकाश्चक्रवालैः
सपदि गगनलक्ष्मीश्चित्रितेवोलल्लास ॥ ६-७२ ॥

रात्रि वर्णन—रात्रि का गहन अन्धकार किस प्रकार चारों ओर फैला है, इसका सुन्दर चित्र प्रस्तुत है।

रन्ध्रेषु प्रथमं प्रविश्य तदनु प्राप्य स्थलीषु स्थितिं
छिद्राण्याशु तिरोदधत् कवलयंस्तुङ्गांस्ततः क्ष्माभृतः।
विष्वक् प्रौढतमं तमो जगदिदं स्मर्तव्यतां प्रापयद्
व्याचक्रे चरितं युगान्तसमयोद्वेलस्य वारांनिधेः ॥१२-४२॥

और भी—

विधिरतनुत सृष्टिं दृष्टिशून्यां किमन्यां
व्यरचयदथ वैनां रूपसम्पत्तिहीनाम्।
इति जगति विवेक्तुं कोविदः कोऽपि नासी-
दलिकुलमलिनाभैरुन्मिषद्भिस्तमोभिः ॥१२-४३॥

ग्रीष्म वर्णन—गर्मी से सूखते हुए वृक्षों को अपनी चिन्ता नहीं है। वे तो अपने आश्रितों के लिए चिन्तित हो रहे हैं।

वीक्ष्य चण्डकिरणस्य रश्मिभिः
शुष्यतः क्षितिरुहो निजाश्रयान्।
झंकृतेन बहुलेन झिल्लिका
मुक्तकण्ठमरुदन् मुहुर्मुहुः ॥ ७-१७ ॥

नदी के किनारे के वृक्ष सूर्य की किरणों से नदी के जल को बचाने के लिए जल से लिपट कर मानो सूर्य से उस जल को न लेने की प्रार्थना कर रहे हैं—

भूयो भूयस्तिग्मभानोर्मयूखैस्तापोत्सेकं दुःसहं प्राप्य खिन्नाः।
छायादंभादम्बु-नादेयमेतद् गाहन्तेऽमी तीरजाः क्ष्मारुहोऽपि ॥७-३४॥

वन वर्णन—भयानक वन में अकेली दमयन्ती नल को ढूंढ़ रही है। चारों ओर हिंसक पशुओं के भयानक शब्द सुनाई दे रहे हैं।

मृगराजचपेटताडितैः करिभिः क्वापि विमुक्तचीत्कृतिः।
धरणीविवरार्धनिर्गतैः फणिनिर्मोकचयैश्चितं पदम् ॥११-४३॥

किन्तु दमयन्ती भयभीत नहीं होती। इसका कवि ने बड़ा ही मनोवैज्ञानिक उत्तर दिया है।

इति तत्र भयङ्करे वने न भयं प्राप भृशं विदर्भजा।
हृदये नवशोक-विक्लवे नहि भावान्तरमर्पयेत् पदम् ॥११-४४॥

शोक-विह्वल हृदय में भय के लिए अवकाश ही कहाँ था ?

दवाग्नि वर्णन—चारों ओर फैली हुई दवाग्नि की लपटें आकाश छू रही हैं। वृक्ष आग की लपट से लाल हो उठे हैं। भंवरे जलकर वृक्षों से टपक

रहे हैं, ऐसा लगता है मानो वृक्ष फूल के बदले अंजन ही बरसा रहे हैं। चकोर कुछ अंगारों को तो निगल सका, किन्तु आज अंगारों ने भी क्रुद्ध होकर उसे जला डाला।

लिलिहुर्विरला मुखैश्चकोराः पततोऽङ्गेषु समन्ततः स्फुलिङ्गान्।
अपरे त्वभिपत्य संहतास्तान्कृतरोषा इव भस्मसाद् वितेनुः ॥१३-७॥

आग के भय से सिंह गुफाओं में घुस गये। किन्तु आग के वहाँ भी फैल जाने से वे पुटपाक बन गये। पर्वत उल्कामुख के समान प्रतीत हो रहा था। मृगी अपने बच्चों की रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयत्न करती है, किन्तु सफल नहीं हो पाती।

सहसा द्रवणात्तमांस्तनूजांश्चरणैः स्वैः परिवार्य गोपयन्त्यः।
पृषतीः परिमन्थरं व्रजन्तीः सह तैरेव ददाह कृष्णवर्त्मा ॥१३-५॥

पत्ता खाने के अपराध को स्मरण कर लताओं ने भी मृगों की सींगों को लपेट अग्नि को अर्पण कर बदला चुकाया।

निजपल्लवभक्षणापराधं परिचिन्त्येव महीरुहः सरोषाः।
प्रतिरुध्य लताभिरद्रिशृङ्गे पृषतानुत्पततोऽग्नये वितेरुः ॥१३-१७॥

सफेद राख से ढका पर्वत अस्थि समूह सा लग रहा था।

धवलीकृतमूर्तयः समन्तादवकीर्णैः पवनेन भस्मजालैः।
गिरयोऽस्थिचया इवावशिष्टाः समभूवन् परिदग्धकाननानाम् ॥१३-२१॥

वर्षा वर्णन—मेघों के चारों ओर घिर आने से दिन में भी गहन अन्धकार फैल गया। नवीन मेघ संसार के छाते के समान लग रहे हैं। ऐसा लग रहा है मानो पर्वत ही पंख फैलाये आकाश में चारों ओर घूम रहे हैं।

सूर्य की किरणें वर्षा के जल को सोख लेती हैं अतः क्रुद्ध हो बादलों ने सूर्य की किरणों को निगल लिया है।

मया विसृष्टानि पयांसि नूनं विशोषयत्येष मयूखजालैः।
इतीव गर्भाश्रितदीर्घरोषा कादम्बिनी चण्डरुचं रुरोध ॥१४-२१॥

पुनः बादल इस भय से कि कहीं ये किरणें हमारे जल को सुखा न डालें, बिजली के बहाने सूर्य-किरणों का वमन करते रहे हैं। बिजली मानो वे किरणें हैं, जिन्हें बादल निगल गये हैं, और अब वे उसका वमन कर रहे हैं। ऐसी उत्प्रेक्षा अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रचण्डभानोः किरणान् सुतीक्ष्णानन्तर्भृशं तापयतः पयोदः।
निजोदराम्भःपरिशोषशङ्की सौदामिनी पुञ्जमिषाद् ववाम ॥१४-२८॥

बिजली भी नल के दुःख से दुखी है। वह द्विविधा में पड़ गई है। मेरे विना ये बादल सुन्दर नहीं लगते और मुझे देखकर नल दुखी होते हैं। यह सोचकर बिजली बार-बार चमकती थी और छिप जाती थी—

मया विना नैष घनश्चकास्ति विलोक्य मां ताम्यति नैषधश्च।
इतीव विद्युत् परिचिन्तयन्ती मुहुश्चकासे च तिरोदधे च ॥१४-३६॥

इस प्रकार रस, नायक, इतिवृत्त, प्रकृति-वर्णन आदि सभी दृष्टियों से विचार करने पर इसमें महाकाव्यत्व की पूर्ण गरिमा उपलब्ध होती है। नवीन भाव-योजना, कवित्वपूर्ण उक्तियाँ, कल्पना की प्रौढ़ता, भाषा की प्राञ्जलता एवं सरलता से कवि की अद्वितीय प्रतिभा का पता चलता है। कवि में गहन अनुभूति और अन्तर्दृष्टि के साथ-साथ उन्हें अभिव्यक्त करने की अपूर्व क्षमता भी है।

—वाचस्पति द्विवेदी

॥ श्रीः ॥

सहृदयानन्दम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

यदिन्द्रियाणां विषयत्वमेति लोकेषु यत्तत्त्वमतीन्द्रियं च ।
कृत्स्नस्य तस्य प्रतिपत्तिहेतुर्वाग्देवता सा मयि संनिधत्ताम् ॥ १ ॥

विश्व में जिन इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है अथवा जो तत्त्व अतीन्द्रिय है, उन सब वस्तुओं का ज्ञान कराने वाली वाग्देवता (सरस्वती) मुझमें निवास करें ॥ १ ॥

दैत्येन्द्रमेकं करजैरनेकैर्विदारयन्व्रीडमिव प्रपन्नः ।
स्वच्छेषु मुक्तेष्वनुबिम्बदम्भात्कुर्वन्ननेकं जयतां नृसिंहः ॥ २ ॥

एक दैत्यराज (हिरण्यकशिपु) को अनेक नखों से विदारण करने से लज्जित, नरसिंह भगवान् निर्मल मोतियों की माला में उसके प्रतिबिम्ब के पड़ने से मानो उसे अनेक बनाते हुये जयलाभ करें ॥ २ ॥

दोषोदये तोषमपि प्रपन्नः खलस्तुलामेति न कौशिकस्य ।
पूर्वस्य सर्वत्र विपक्षतास्ति निसर्गतोऽन्यस्य सपक्षतैव ॥ ३ ॥

दोष के उदय होने पर (उल्लू-पक्ष में रात्रि के उदय होने पर) सन्तुष्ट होता हुआ खल उल्लू की समता नहीं कर पाता । दुष्ट को हर जगह प्रतिकूलता ही दिखायी पड़ती है, किन्तु उल्लू को स्वभावतः अनुकूलता ही दिखायी पड़ती है ॥ ३ ॥

धात्रा खलानां च सतां च किंचिद्विवेचनार्थं क्रियते न चिह्नम् ।
परस्य दोषेषु गुणेषु चामी प्रमोदलाभात्प्रकटीभवन्ति ॥४॥

ब्रह्मा ने सज्जनों एवं दुर्जनों में भेद करने के लिये कोई चिह्न नहीं बनाया है । दूसरों के गुण या दोष से प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता ही इन्हें प्रकट कर

देती है। (यदि गुण से प्रसन्न और दोष से अप्रसन्न हुए तो सज्जन अन्यथा दुर्जन हैं) ॥ ४ ॥

प्रत्नस्य काव्यस्य च नूतनस्य तुल्यः स्वभावः प्रतिभासते मे।
मृजाभिरेते निपुणैः कृताभिः समश्नुवाते हि गुणान्तराणि ॥ ५ ॥

प्राचीन एवं नवीन काव्य मुझे समान ही प्रतीत होते हैं (दोनों ही) योग्य व्यक्तियों से परिमार्जित होकर अन्य गुणों को भी धारण कर लेते हैं ॥ ५ ॥

ता एव नूनं सफलोदयाः स्युर्मुक्ताः प्रसन्नाः कविसूक्तयश्च।
गुणोपपत्त्या कमनीयगुम्फाः कण्ठे सतां याः पदमाप्नुवन्ति ॥ ६ ॥

अच्छी तरह ग्रथित वे ही मोती एवं कवि की प्राञ्जल सूक्तियाँ सफल हैं जो गुण (मोती-पक्ष में सूत्र) के कारण अच्छे व्यक्तियों के कण्ठ में स्थान प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

अत्रेतिवृत्ते रचितप्रबन्धे क्रुद्धो मुधा मास्तु कविः पुराणः।
न स्पर्धया व्योम्नि सहस्रधाम्नः खद्योतकः स्वां द्युतिमातनोति ॥ ७ ॥

इस (नलोपाख्यान) कथा पर बनाये गये इस काव्य पर प्राचीन कवि निरर्थक क्रोधित न हों। जुगनू आकाश में सूर्य की स्पर्धा से अपनी कान्ति नहीं फैलाता ॥ ७ ॥

आसीदसीम्ना सहजेन धाम्ना निषिद्धशत्रुर्निषधेष्वधीशः।
अनन्यसाधारणवीरसेनं यं वीरसेनं सुधियो वदन्ति ॥ ८ ॥

असीम स्वाभाविक तेज से युक्त शत्रुरहित निषध देश में राजा थे। असाधारण वीर-सेना के कारण विद्वान् जिन्हें वीरसेन के नाम से पुकारते थे ॥ ८ ॥

मध्यंदिने म्लायति कृष्णवर्त्मा दिनावसाने रविरस्तमेति।
यस्य प्रतापः प्रतिपार्थिवानां दिवानिशं दुर्विषहो बभूव ॥ ९ ॥

मध्याह्न में अग्नि मलिन हो जाता है, सायंकाल में सूर्य भी अस्त हो जाता है। किन्तु इस नरेश (वीरसेन) का प्रताप (तेज) प्रत्येक राजाओं के लिये अहर्निश असह्य था ॥ ९ ॥

शरन्निशानाथमरीचिगौरैर्विसृत्वरैर्यस्य यशःप्रवाहैः।
प्रक्षाल्यमानेऽपि जगत्यरीणां मलीमसान्येव मुखान्यभूवन् ॥१०॥

शरत्कालीन चन्द्रमा की शुभ्र किरणों के समान फैलते हुए इनके यश के प्रवाह से संसार में शत्रुओं का मुख धोया जाने पर भी मलिन ही रहा ॥ १० ॥

युगान्तवातैस्तरलीकृतोर्मिर्वेलामतिक्रामति तोयराशिः।
द्विषां जयैरुन्नतिमागतोऽपि न लङ्घयामास नृपः स्थितिं यः ॥११॥

प्रलयकालीन वायु द्वारा उठायी गयी तरङ्गों से समुद्र भी अपनी सीमा का

उल्लङ्घन कर जाता है। किन्तु शत्रुओं को जीतने से उन्नति प्राप्त कर भी राजा ने अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया ॥ ११ ॥

दोर्दण्डदर्पस्तपनो यदीयस्तमो निरस्यन्नपि लोकवृत्ति।
प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिमण्डलस्य निमीलयामास मुखाम्बुजानि ॥ १२ ॥

अपनी भुजाओं के अभिमानरूपी सूर्य से संसार के अन्धकार को दूर करते हुए भी प्रतिस्पर्धी राजाओं के मुख-कमल को बन्द कर दिया ॥ १२ ॥

क्वचिन्न या रज्यति भुज्यमाना गाढानुरागैरपि मेदिनीन्द्रैः।
सैव क्षितिर्यं पतिमभ्युपेत्य पतिव्रतानां व्रतमन्वतिष्ठत् ॥ १३ ॥

पूर्व पृथ्वीपतियों द्वारा अत्यन्त अनुराग से भोग की जाती हुयी भी जो पृथ्वी कभी भी अनुरक्त नहीं रही उसी पृथ्वी ने उनको पतिरूप में पाकर पतिव्रताओं का व्रत पालन किया ॥ १३ ॥

निजेन धाम्ना जगतोऽखिलस्य दोषापनोदाय समुद्यतस्य।
द्वीपेषु सप्तस्वपि निर्विशेषः करोदयो यस्य रवेरिवासीत् ॥ १४ ॥

अपने तेज से समूचे संसार का दोष (सूर्य-पक्ष में अन्धकार) दूर करने को उद्यत इनकी भुजा (सूर्य-पक्ष में किरण) सूर्य के समान सातों द्वीपों में स्थित थी ॥ १४ ॥

अपि प्रभुः शास्त्रनियन्त्रितत्वाद्धर्मार्थकामानिव तुल्यवृत्तिः।
पौरानसौ जानपदांश्च नित्यमन्योन्यबाधारहितं बभार ॥ १५ ॥

प्रभु होने पर भी शास्त्र से नियन्त्रित होने के कारण इनका धर्म, अर्थ और काम में समान व्यवहार था। इन्होंने परस्पर बाधारहित रूप से नगर एवं ग्राम वासियों का पालन किया ॥ १५ ॥

दिशामधीशैः पुरुहूतमुख्यैरपि प्रकामं स्पृहणीयलक्ष्मीः।
ततः क्षितीन्द्रात्तनयोऽधिजज्ञे क्षीराम्बुराशेरिव कल्पवृक्षः ॥ १६ ॥

दिक्पालों एवं इन्द्रादि से भी काम्य लक्ष्मी ने इस पृथ्वीपति (वीरसेन) के द्वारा समुद्र से कल्पवृक्ष की तरह पुत्र उत्पन्न किया ॥ १६ ॥

तस्मिन्क्षणे प्राङ्गणसीम्नि राज्ञः प्रसूनवृष्टिर्नभसः पपात।
नीरन्ध्रमासादितया समन्ताद्यया हसन्तीव मही विरेजे ॥ १७ ॥

उस समय राजा के प्राङ्गण में आकाश से पुष्पवृष्टि हुयी। बरसे हुए फूलों की सघनता से पृथ्वी हँसती हुयी के समान शोभित हुयी ॥ १७ ॥

वसुंधरे सागरमेखलां त्वामनन्यसाधारणमेष भोक्ता।
इतीव नादैः प्रथयांबभूवुर्वृन्दानि वृन्दारकदुन्दुभीनाम् ॥ १८ ॥

सागर है करधनी जिसकी ऐसी हे वसुन्धरे! यह तुम्हारा असाधारण एवं

अतुलनीय भोग करने वाला है। इस प्रकार के शब्द-घोष से देवताओं के दुन्दुभि-समूह ने प्रशंसा की ॥ १८ ॥

तदा कुमारोदयमङ्गलश्रीरास्थानभाजः पृथिवीश्वरस्य।
न्यवेदि पूर्वं सुरपुष्पवर्षैर्योषिन्नियुक्तैश्चरमं तु चारैः ॥ १९ ॥

राजसभा में स्थित महाराज को कुमार को उत्पत्ति का मंगल समाचार सबसे पहले देवताओं की पुष्पवृष्टि से विदित हुआ और अन्त में नियुक्त स्त्री दूतों से ॥ १९ ॥

दुःखैरसंभिन्नगुरुप्रमोदा दोषेऽप्यनास्वादितदण्डभीतिः।
संकल्पमात्रोपनतार्थसिद्धिस्तदाभवद्द्यौरिव राजधानी ॥ २० ॥

दु:ख-रहित अतिशय प्रमोद-युक्त दोष होने पर भी दण्डभय से रहित वह राजधानी उस समय इच्छामात्र से उपस्थित सिद्धि वाले स्वर्ग के समान हो गयी ॥ २० ॥

अन्तःपुरस्थोऽपि नरेन्द्रसूनुरानन्दयामास विशां मनांसि।
पूर्वाद्रिशृङ्गान्तरितोऽपि भास्वान्प्रसादयत्येव दिशां मुखानि ॥ २१ ॥

अन्त:पुर में रहने पर भी कुमार ने लोगों के मन को आनन्दित किया। पूर्व दिशा के पर्वत को चोटियों से छिपे रहने पर भी सूर्य दिशाओं को प्रकाशित करता ही है ॥ २१ ॥

ततो नियोगादवनीश्वरस्य पुरोधसा निर्मितजातकर्मा।
स राजसूनुः सुतरां विरेजे नीहारनिर्मुक्त इवोष्णरश्मिः ॥ २२ ॥

महाराज के संरक्षण से एवं पुरोहित द्वारा जातकर्मादि संस्कार किये जाने पर वह राजकुमार कुहासा से रहित सूर्य-किरणों के समान सुशोभित हुआ ॥ २२ ॥

विलोकमानः कमनीयरूपं कुमारमारोप्य तमङ्कदेशे।
निमेषचेष्टामपि पद्मपङ्क्त्योश्चिरं विसस्मार महीमहेन्द्रः ॥ २३ ॥

गोद में लेकर उस कुमार के सुन्दर रूप को देखते हुए महाराज पपनी गिराने की क्रिया भी देर तक भूल गये। (अर्थात् निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे) ॥ २३ ॥

लब्धार्थकामार्जनकोविदत्वमयं न लीयेत कदापि पापे।
इतीव निश्चित्य गुरुर्निमित्तैश्चकार नाम्ना नलमात्मजं तम् ॥ २४ ॥

अर्थ, काम एवं पाण्डित्य पाकर भी यह कभी पाप में रत नहीं होगा ऐसा निश्चय कर गुरुओं के द्वारा इनके पुत्र का नाम नल रखा गया ॥ २४ ॥

तस्यानिमित्तस्मितचन्द्रिकाभिर्यथा यथा जृम्भितमर्भकस्य ।
तथा तथासीदवनीश्वरस्य प्रमोदवारांनिधिरुत्तरङ्गः ॥ २५ ॥

अकारण ही चन्द्रिका के समान हास से कुमार जैसे जैसे जम्हाई लेते थे वैसे वैसे महाराज के आनन्द का महासागर उमड़ पड़ता था ॥ २५ ॥

पद्भ्यां हरिद्रारसरञ्जिताभ्यां स्पृष्टा मही यत्कमलाङ्किताभूत् ।
तेनैव तस्मिन्कमलोद्भवायाः सांनिध्यमुच्चैः प्रथयांबभूव ॥ २६ ॥

हल्दी के रस से रञ्जित चरणों से युक्त पृथ्वी पर जो कमल के चिह्न उग आये उससे इनमें लक्ष्मी का वास है ऐसी प्रसिद्धि उस समय हुई ॥ २६ ॥

बाल्यादनाविष्कृतवर्णभेदैर्वचोभिरर्धोच्चरितैस्तदीयैः ।
राज्ञः प्रमोदः प्रथमं व्यधायि लिङ्गैस्तु पश्चात्कथितस्तदर्थः ॥ २७ ॥

बाल्यावस्था के कारण वर्णभेद न कर पाने के कारण वाणी के आधा उच्चारण से ही राजा को पहले आनन्द मिला बाद में उस (कुमार) ने लिङ्ग के द्वारा ही अर्थ व्यक्त किया ॥ २७ ॥

निर्मीयमाणा निपुणैर्नृपस्य नेपथ्यलक्ष्मीर्न तथा प्रियासीत् ।
यथा यदृच्छारसिकस्य तस्य विलुप्यमाना करपल्लवेन ॥ २८ ॥

कुशल कारीगरों द्वारा बनायी गयी रंगभूमि की शोभा राजा को उतनी प्रिय नहीं लगी जितनी स्वेच्छाप्रिय उसके हाथ से मिटती हुयी (रेखायें) ॥ २८ ॥

संस्पर्धमानेव नराधिपस्य प्रमोदलक्ष्मीं मुहुरुल्लसन्तीम् ।
दिने दिने तस्य शरीरयष्टिर्नवां नवां वृद्धिमुपारुरोह ॥ २९ ॥

राजा के निरन्तर बढ़ये हुते आनन्द से स्पर्धा करता हुआ उसका शरीर प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हुआ ॥ २९ ॥

अभ्यासहेतोः क्षिपतः पृषत्काञ्ज्याकृष्टिजन्मा ध्वनिरस्य योऽभूत् ।
तेनैव दर्पः प्रतिपार्थिवानां धनुर्भृतां दूरतरं निरस्तः ॥ ३० ॥

अभ्यासवश बाण फेंकते हुए प्रत्यञ्चा से जो ध्वनि हुयी उसी से अन्य धनुर्धारी प्रतिस्पर्धी राजाओं का घमण्ड चूर हो गया ॥ ३० ॥

न केवलं लोचनवर्त्मवर्ति शराः शरव्यं जगृहुस्तदीयाः ।
शब्देन दूरादनुमीयमानं विचिन्त्यमानं मनसापि भेजुः ॥ ३१ ॥

उनके बाणों ने केवल दृष्टिगोचर होने वाले निशानों को ही ग्रहण नहीं किया । अपितु वे दूर से ही शब्द से अनुमान किये जाने वाले एवं मन से सोचे गये निशानों पर भी लगे ॥ ३१ ॥

आतिथ्यमक्ष्णोः क्षणमभ्युपैति सौदामिनी व्योम्नि विजृम्भमाणा ।
कृपाणपाणेर्धृतचर्मणस्तु नलस्य नालक्षि गतिर्जनेन ॥३२॥

आकाश में चमकती हुयी विजली क्षण भर आँखों से दृष्टिगत होती है। किन्तु हाथ में कृपाण लिये एवं चर्मधारी नल की गति लोगों से नहीं दिखाई पड़ी ॥ ३२ ॥

विद्यासु सर्वासु तथा चकार परिश्रमं राजसुतः क्रमेण ।
निश्चायकं संशयितेऽर्थतत्त्वे मेने यथैनं निवहो गुरूणाम् ॥ ३३ ॥

राजकुमार ने सभी विद्याओं में इतना श्रम किया कि गुरुओं ने भी इन्हें सन्देहास्पद स्थलों में निश्चायक माना ॥ ३३ ॥

अथौषधिः कान्तिविशेषवृद्धेः साम्राज्यलक्ष्मीः स्मरपार्थिवस्य ।
नीराजना विक्रमकुञ्जरस्य नलं सिषेवे नवयौवनश्रीः ॥३४॥

कान्तिवर्द्धक औषधि, कामदेव-तुल्य राजा की साम्राज्य-लक्ष्मी एवं पराक्रम रूपी हाथी की आरती से युक्त जो नवीन युवावस्था का सौन्दर्य है उसने नल की सेवा की ॥ ३४ ॥

पीयूषरश्मेरपहाय मध्यं भजेदुपान्तं यदि प(ल)दमलेखा ।
नवोदितश्मश्रुलताभिरामं तदोपमीयेत मुखं नलस्य ॥ ३५ ॥

चन्द्रमा के बीच के भाग को छोड़ देने पर यदि (शेष) चिह्न रेखा चारों ओर रहे, तब नवोदित रोमावली से मनोरम नल के मुख की उपमा दी जा सकती है ॥ ३५ ॥

महीभुजां संयति निर्जितानां श्रियः करिष्यन्ति निवासमस्मिन् ।
इतीव निश्चित्य विधिश्चकार प्रकामविस्तीर्णममुष्य वक्षः ॥३६॥

युद्ध में जीते गये राजाओं की लक्ष्मी इनमें निवास करेंगी, ऐसा निश्चय कर ब्रह्मा ने इनके वक्ष को बहुत चौड़ा बनाया ॥ ३६ ॥

नरेन्द्रसूनुः कृशिमातिरेकात्परं न मध्येन जिगाय सिंहान् ।
दृप्तारिवीरद्विपदारणेन नैसर्गिकेणापि पराक्रमेण ॥ ३७ ॥

राजकुमार ने कटि की लघुता से ही सिंहों को नहीं जीता अपितु प्रचण्ड शत्रुरूपी हाथियों को विदारण करने के कारण स्वाभाविक पराक्रम से भी उन्हें जीत लिया ॥ ३७ ॥

मौर्वीकिणश्यामिकया कृताङ्कमाजानु दीर्घं भुजयुग्ममस्य ।
विलोकमानः परिपन्थिलोकः स्वे भाविनि श्रेयसि निःस्पृहोऽभूत् ॥३८॥

निरन्तर प्रत्यञ्चा चढ़ाने से उत्पन्न घाव के कारण श्याम वर्ण के चिह्न से युक्त, घुटनों तक लटकी लम्बी भुजाओं को देखकर लोगों ने भविष्य के कल्याण की चिन्ता छोड़ दी ॥ ३८ ॥

गाम्भीर्यमब्धिं स्थिरता नगेन्द्रं प्रभा दिनेशं कमनीयतेन्दुम् ।
अप्येकमेनं निखिलो गुणौघः परस्परस्पर्धितयेव भेजे ॥३९॥

(राजा नल) गम्भीरता में समुद्र, स्थिरता में हिमालय, तेज में सूर्य एवं सौन्दर्य में चन्द्रमा के समान हैं। अकेले ही इनके सभी गुणों के समूह ने मानों परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हुए इनकी सेवा की ॥ ३९ ॥

ततः स्वदोर्दैर्ध्यपरीक्षणाय कदाचिदभ्याशजुषां मुखेन ।
शस्त्रेण साध्यं पृथिवीन्द्रसूनुः किंचिद्विधेयं पितरं ययाचे ॥ ४० ॥

किसी समय राजकुमार ने अपने बाहुओं की दीर्घता की परीक्षा के लिए, अपने पिता से शस्त्र द्वारा सिद्ध होने वाले किसी कार्य के करने की आज्ञा मांगी ॥ ४० ॥

अथ क्षितिं वीक्ष्य जितामशेषां स्वेनैव धाम्ना निषधाधिनाथः ।
दोर्दण्डकण्डूमपनोदयिष्यन्दिदेश सूनोर्मृगयाविहारम् ॥ ४१ ॥

अपने ही पराक्रम से समूची पृथ्वी को जीती हुयी देखकर निषधेश्वर ने पुत्र की भुजाओं की खुजलाहट दूर करने के लिए शिकार खेलने की आज्ञा दी ॥ ४१ ॥

आपांसुकेलिप्रतिपन्नसख्यैरुपात्तशस्त्रैः सह मन्त्रिपुत्रैः ।
विभ्रद्धनुः पार्श्वनिषक्ततूणः स वाहमारुह्य वनं प्रतस्थे ॥ ४२ ॥

बाल्यकाल से ही साथ खेलने के कारण मित्र एवं सहपाठी मन्त्रिपुत्रों के साथ बगल में तरकस बांधकर एवं धनुष धारण कर घोड़े पर चढ़ कर वन की ओर प्रस्थान किया ॥ ४२ ॥

पतिः पृथिव्यास्तमनु प्रयातुं चमूचरानाटविकान्दिदेश ।
स केवलं तान्पितृगौरवेण न कार्यबुद्ध्यानुचरांश्चकार ॥ ४३ ॥

पृथ्वीपति महाराज वीरसेन ने शिकारियों एवं अनुचरवृन्द को उनके पीछे-पीछे जाने का आदेश दिया। उन्होंने किसी आवश्यकतावश नहीं अपितु पिता के बड़प्पन के कारण ही उन्हें पीछे-पीछे आने को कहा ॥ ४३ ॥

नेत्राञ्चलैरेव मृगेक्षणानां निपीयमानाननचन्द्रलक्ष्मीः ।
पुरीमतिक्रम्य नगोपकण्ठे खेलत्कुरङ्गं स्थलमाससाद ॥ ४४ ॥

मृगनयनियों के नेत्रांचल से पान की गई है मुखचन्द्र की शोभा जिसकी ऐसे राजकुमार (नल) ने नगर पार कर पर्वत की तराई में खेलते हुए मृगों की भूमि में प्रवेश किया ॥ ४४ ॥

तथा स चक्रे भुवि मण्डलानि सव्यापसव्यानि तुरंगमेण ।
यथा मृगैरप्यनवाप्य मार्गं तन्मध्य एव भ्रमता व्यधायि ॥ ४५ ॥

उन्होंने पृथ्वी पर घोड़े के द्वारा कभी बायें कभी दाहिने घूमकर इस प्रकार मण्डल बनाया कि मार्ग न पाकर मृग उनके बीच में ही घूमते हुए पकड़े गये ॥ ४५ ॥

विहाय तेषां सरणिं स भूयो हयं तथा तीव्ररयं चकार ।
दूरं प्रयातानपि तानतीत्य यथा निवृत्तेषुभिराजघान ॥ ४६ ॥

उन मृगों का पीछा छोड़कर पुनः उन्होंने अपने घोड़े को इतना तेज दौड़ाया कि दूर चले गये उन मृगों को भी पार कर पीछे की ओर फेंके गये अपने बाणों द्वारा उन्हें मारा ॥ ४६ ॥

इतस्ततो विद्रवतां मृगाणां येषां विषाणानि नलश्चकर्त ।
संरोप्यमाणैर्विशिखैः शिरःसु पुनः सशृङ्गानिव तांश्चकार ॥ ४७ ॥

इधर उधर घूमते हुए जिन मृगों की सींगों को राजा नल ने काट डाला उन्हें अपने बाणों के प्रहार से पुनः सींग युक्त बना दिया ॥ ४७ ॥

ततस्तुरंगोद्धतधूलिचक्रं स्थलं परिक्षीणमृगं विहाय ।
अग्रेसरैः कैश्चन कृष्णसारैरादिष्टवर्त्मेव वनं स भेजे ॥ ४८ ॥

घोड़ों द्वारा उड़ाये गये धूलिचक्र से युक्त एवं विरल मृगवाले स्थान को छोड़कर आगे जाते हुए कुछ कृष्णसार (मृगविशेष) द्वारा मानों रास्ता बताये जाते हुए राजा नल ने वन में प्रवेश किया ॥ ४८ ॥

कुरङ्गकैः कीर्णनिकुञ्जगर्भं भुजंगमैः शंसितभूमिरन्ध्रम् ।
शाखामृगैर्लङ्घिततुङ्गशाखं खगैः समासादितपादपाग्रम् ॥ ४९ ॥

मृग वन-कुन्जों में छिप गये, सर्प बिलों में प्रविष्ट हो गये, वन्दर वृक्ष की अन्तिम डाल पर चढ़ गये एवं पक्षिगण वृक्ष के शिखर पर चले गये ॥ ४९ ॥

सिंहैः समाक्रान्तदरीविशेषं तरक्षुभिः काङ्क्षितसान्द्रकक्षम् ।
विगाह्यमानं परितो नलेन विनीतवत्काननमावभासे ॥ ५० ॥ (युग्मम्)

सिंह गुफाओं में चले गये, भालू घनी लताओं में छिप गये । इस प्रकार राजा नल के द्वारा चारों ओर से मथा जाता हुआ जंगल विनीत के समान मालूम हो रहा था ॥ ५० ॥

प्रतिस्वनाक्रान्तदिगन्तरेण ज्याकृष्टिघोषेण गणो मृगाणाम् ।
तमेव सर्वत्र विशङ्कमानः पाशैर्विना बद्ध इवावतस्थे ॥ ५१ ॥

प्रत्यञ्चा खींचने के शब्द की प्रतिध्वनि से समूची दिशाओं के गूँजने के कारण मृग सब जगह उनकी आशंका करते हुये विना जाल के ही बँधे हुए के समान स्थित थे ॥ ५१ ॥

प्रवेष्टुकामानिव भीतिवेगात्क्षितिं मुखैरुल्लिखतो वराहान् ।
फूत्कारघोषेण निवेद्यमानान्ददर्श दूरादवनीन्द्रसूनुः ॥ ५२ ॥

भय के कारण छिपने की इच्छा से जमीन खोदते हुए एवं फूत्कार की ध्वनि से (अपने आप को) प्रगट करते हुये शूकरों के समूह को दूर से ही राजा नल ने देखा ॥ ५२ ॥

तरस्विना तेन नृपात्मजेन विकृष्य चापं कुतुकाद्विमुक्तैः ।
नीरन्ध्रमङ्गेषु शरैर्निखातैः प्रापुः श्रियं सल्लकिनां वराहाः ॥ ५३ ॥

वेग से चलने वाले उन राजकुमार के द्वारा कौतुकवश चाप खींचकर फेंके गये तीक्ष्ण बाण द्वारा छिद्रयुक्त शरीर वाले शूकरों ने साही की शोभा को प्राप्त किया (अर्थात् बाणों के गड़ जाने से साही के—काटों के समान वे भी देखने में लग रहे थे ॥ ५३ ॥

धनुर्भृता तेन शरो विमुक्तः शिक्षाविशेषादविशीर्णवेगः ।
प्रदीर्घपङ्क्तिः क्वचिदेकपद्यामेकोऽपि यूथं विभिदे मृगाणाम् ॥ ५४ ॥

विशेष शस्त्र-शिक्षा की दक्षता के कारण नष्ट नहीं हुआ है वेग जिसका ऐसे धनुर्धारी राजा नल के द्वारा मारे गये बाणों ने कभी-कभी एक सीध में स्थित मृगों की लम्बी पंक्ति को भेद डाला ॥ ५४ ॥

वाहद्विषां निष्पततां पुरस्ताद्विषाणचक्रं स तथा चकर्त ।
अभ्याशभाजोऽपि विलोक्य वाहान्द्वेषं यथैते सफलं न कुर्युः ॥ ५५ ॥

सामने से आक्रमण करते हुये भैंसों की सींग को राजा नल ने इस प्रकार काट डाला कि घोड़ों को सामने देख कर भी अभ्यासवश अपने स्वाभाविक द्वेष को वे सफल न कर सके (अर्थात् सींग से प्रहार न कर सके) ॥ ५५ ॥

स बाणवर्त्मन्यपि वर्तमानान्कपीनमुञ्चत्करुणार्द्रचेताः ।
संरक्षतः स्वावयवानुपेक्ष्य कण्ठेषु डिम्भानवलम्बमानान् ॥ ५६ ॥

बाण के निशाने पर स्थित एवं अपने शरीर की उपेक्षा कर गले में लटके हुये अपने बच्चों की रक्षा करते हुये बन्दरों को दयावान् राजा नल ने छोड़ दिया ॥ ५६ ॥

निकुञ्जलीनः क्षुधितस्तरक्षुर्विक्रम्य जग्राह मृगं न यावत् ।
नृपात्मजस्तावदुपेत्य वेगादुद्ग्रथ्य कुन्तेन तमुद्दभार ॥ ५७ ॥

कुञ्ज में छिपे हुए भूखे चीते ने जैसे ही छलांग मार कर मृग को पकड़ना चाहा वैसे ही राजकुमार नल ने वहाँ पहुँच कर अपने वेगयुक्त भाले से (उस चीते को) गूंथ कर उस मृग का उद्धार किया ॥ ५७ ॥

अलक्षितः क्वापि जवातिरेकाच्चमूचरैः सान्द्रमहीरुहेषु ।
भ्रमन्वनान्तेषु मृगानुसारी पद्माकरं कंचिदसौ ददर्श ॥ ५८ ॥

अपने वेग के कारण सघन वृक्षों में (छिप जाने से) अनुचरों की आंखों से ओझल, मृग का पीछा करते हुए राजा नल ने एक सरोवर देखा ॥ ५८ ॥

किंचिन्निपीतक्लमवारिबिन्दुः सरोजसंसर्गवतानिलेन ।
स तस्य तीरे सुखसुप्तहंसे नरेन्द्रसूनुः सुचिरं चचार ॥ ५९ ॥

कमलों को स्पर्श कर आती हुई हवा से पसीने को कुछ दूर कर उस राजकुमार ने सुखपूर्वक सोये हुए हंसों से युक्त तट पर देर तक भ्रमण किया ॥ ५९ ॥

मुखे प्रियायाः प्रणयानुबन्धाद्बालं मृणालाङ्कुरमर्पयन्तम् ।
सरोजिनीपत्त्रनिषण्णमेकं हिरण्मयं हंसमसौ ददर्श ॥ ६० ॥

राजा नल ने, प्रेमपूर्वक अपनी प्रिया के मुख में छोटे-छोटे बिसतन्तुओं को खिलाते हुए कमलिनी-पत्र पर बैठे हुए एक स्वर्णनिर्मित हंस को देखा ॥ ६० ॥

तं धारयिष्यन्नविपन्नमेव संमोहनास्त्रं स समाददे च ।
लताश्रितानां वनदेवतानां शुश्राव वाक्यं च मनोज्ञमेतत् ॥ ६१ ॥

उस हंस को जीवित ही पकड़ने की इच्छा से इन्होंने, लताओं में स्थित वन-देवताओं के द्वारा कहा जाता हुआ इस प्रकार का प्रिय वाक्य सुना ॥ ६१ ॥

चापादपाकृष्य नरेन्द्रसूनो शिलीमुखं तूणमुखे निधेहि ।
संपादयिष्यत्ययमीप्सितं यत्तवानुरूपं तनुरूपलक्ष्म्याः ॥ ६२ ॥

हे राजकुमार, अपने वाण को चाप से हटा कर तरकस में रख दो । तुम्हारे सौन्दर्य-श्री के अनुरूप ही यह तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करेगा ॥ ६२ ॥

ततस्तदाकर्ण्य वचः कुमारः सविस्मयं तद्विदधे तथैव ।
उपेत्य हंसः सुविदूर एव निषेदिवानित्थमुदाजहार ॥ ६३ ॥

इस प्रकार आश्चर्यपूर्वक उनकी बातें सुनकर राजकुमार ने वैसा ही किया । हंस समीप आकर कुछ अलग बैठकर इस प्रकार बोला ॥ ६३ ॥

मधुद्विषो नाभिसरोजजन्मा निर्माणशिल्पी जगतां त्रयाणाम् ।
त्रयीलतोन्मीलनमूलकन्दः करोतु देवस्तव मङ्गलानि ॥ ६४ ॥

भगवान् विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न त्रिलोक के निर्माता एवं वेदत्रयी रूपी लता के मूल बीज भगवान् ब्रह्मा तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ६४ ॥

त्रैलोक्यभर्तुः कमलासनस्य विमानधुर्याधिपतित्वलाभात् ।
सयक्षरक्षःसुरकिंनरेषु लोकेषु पूज्या मम तातपादाः ॥ ६५ ॥

तीनों लोकों के स्वामी कमलासन ब्रह्मा के विमान की धुरी धारण करने के फलस्वरूप मेरे पूज्य पिता यक्ष, राक्षस, देव, किन्नर एवं मनुष्यों में पूज्य थे ॥ ६५ ॥

स्वकर्म मां शिक्षयता विमाने पित्रा नियुक्तं क्षणमप्यवेक्ष्य ।
निजासनाम्भोरुहकेसरैर्मे श्रमापनोदं कुरुते विरिञ्चिः ॥ ६६ ॥

अपने कार्य की शिक्षा देते हुए पिता के द्वारा क्षण भर भी मुझे विमान के ढोने में नियुक्त देखकर भगवान् ब्रह्मा अपने कमलासन के परागों से मेरा श्रम दूर करते थे ॥ ६६ ॥

स्नानोन्मुखीनां सुरसुन्दरीणां काश्मीरपङ्कैः परिपिञ्जरेषु ।
अदूरमन्दारतरुप्रसूनैः समीरमुक्तैः सुरभीकृतेषु ॥ ६७ ॥
दिक्कुञ्जराणामविरामपातैर्मदाम्बुभिः कर्बुरितोदरेषु ।
चरामि सार्धं सहचारिणीभिः स्वर्गापगायाः पुलिनान्तरेषु॥६८॥(युग्मम्)

स्नानोन्मुखी देवसुन्दरियों के अङ्गराग से पिङ्गल वर्ण के एवं निकटवर्ती मन्दार-पुष्प से आती हुयी हवा से सुरभित तथा दिक्पालों के निरन्तर बहते हुए मदजल से मिश्रित स्वर्गङ्गा के तटपर मैं सहचरियों के साथ घूमता हूँ ॥६७-६८॥

कौमारसारभ्य सुताः सुराणां जयन्तमुख्या अपि वद्धसख्याः ।
तथापि भूयांस्तव दर्शनोत्थश्चित्तेऽपि संमाति न मे प्रमोदः ॥ ६९ ॥

कौमार्यावस्था से ही जयन्त आदि प्रमुख सुरपुत्रों से मित्रता हो जाने पर भी तुम्हारे दर्शन से उत्पन्न आनन्द चित्त में नहीं समा रहा है ॥ ६९ ॥

न मानसे नैव सुमेरुशृङ्गे न नन्दने नापि गृहे विरिञ्चेः ।
न क्वापि गन्तुं वलते मनो मे त्वया सनाथामवनीं विहाय ॥ ७० ॥

तुमसे सनाथ इस पृथ्वी को छोड़कर मानसरोवर, सुमेरु-शिखर, नन्दन वन अथवा ब्रह्मा के घर आदि स्थानों में भी जाने का मन नहीं कर रहा है ॥ ७० ॥

सख्यं त्वया साधयितुं ततो मां स्पृहातिरेकस्तरलीकरोति ।
पुष्पेषुपुष्पाकरयोरिवास्तु तदावयोः स्याद्यदि कौतुकं ते ॥ ७१ ॥

तुमसे मित्रता करने के लिये स्नेहाधिक्य मुझे प्रेरित कर रहा है । यदि आपको भी कुतूहल हो तो पुष्पों में वसन्त के समान हम लोगों की भी मैत्री हो ॥ ७१ ॥

ततः समास्थाय स मौनवन्धं मन्दाकिनीपुष्करगन्धभाजा ।
अमार्जयत्पक्षपुटानिलेन तदङ्गलग्नानि रजांसि हंसः ॥ ७२ ॥

इसके वाद आकाश-गङ्गा के गन्ध का भोग करने वाला वह हंस मौन धारण कर अपने पंख एवं चोंच से शरीर में लगी हुयी धूल साफ करने लगा ॥७२॥

भवादृशानां मनुजेषु सख्यं मनोरथानामपि दूरवर्ति ।
तदद्य संपादयतो विधातुरहेतुकोऽयं मयि पक्षपातः ॥ ७३ ॥

आप जैसे व्यक्तियों के साथ मित्रता (हमारी) अभिलाषाओं से भी परे

हैं। उसे आज यहाँ सम्पन्न करते हुए विधाता का मुझ पर निष्कारण अनुग्रह ही है ॥ ७३ ॥

मृगार्थमित्थं भ्रमतो वनेषु दैवादभूद्यस्त्वयि सख्यबन्धः ।
स एष पाषाणकणाञ्जिघृक्षोः करोदरे मौक्तिकपुञ्जपातः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार मृगों के लिए जंगल में भटकते हुए तुम से संयोगवश ही आज मित्रता हो गयी। यह तो वैसा ही हुआ जैसे पत्थर के कणों को चुनने की इच्छा करने वाले को मोतियों का ढेर हो हाथ आ जाए ॥ ७४ ॥

अद्य प्रभृत्येव सखा त्वमेकः प्रेमास्पदं स्वादपि जीवितान्मे ।
इति ब्रुवन्नेव नरेन्द्रसूनुः करेण कण्ठे खगमाममर्श ॥ ७५ ॥

आज से ही तुम मेरे जीवन से भी अधिक प्रिय मित्र हुए। इस प्रकार कहते हुए राजकुमार नल ने उस पक्षी को कण्ठ से लगा लिया ॥ ७५ ॥

इत्थं प्रसादाभिमुखेन धात्रा निर्यत्नमावर्जितसख्यबन्धौ ।
तौ तस्थतुस्तत्र मुहूर्तमात्रं परस्पराभाषणकौतुकेन ॥ ७६ ॥

इस प्रकार विना प्रयत्न के ही ब्रह्मा की कृपा से मित्रता के सूत्र में बंधकर कुछ क्षणों तक परस्पर बातचीत करते हुए वे दोनों वहाँ ठहरे ॥ ७६ ॥

स्वस्त्यस्तु ते संप्रति साधयामि निवेदितं यद्वनदेवताभिः ।
संतर्पयिष्यामि दृशौ वयस्य भूयस्त्वयालोकरसायनेन ॥ ७७ ॥

(हंसने कहा) तुम्हारा कल्याण हो। इस समय वन-देवताओं ने जो कुछ कहा है मैं उसे ही सम्पन्न करने जा रहा हूँ। हे मित्र, पुनः तुम्हारे दर्शन से अपनी आंखों को तृप्त करूंगा ॥ ७७ ॥

जाता दिनश्रीर्जरती तदेव गृहानुपैतुं समयस्तवापि ।
इत्थं वचः कर्णपथाभिराममुदीर्य हंसो वियदुत्पपात ॥ ७८ ॥

वृद्धा दिनश्री बीत चुकी। तुम्हारा भी घर लौटने का समय हो गया। इस प्रकार कर्णप्रिय वचन कह कर हंस आकाश में उड़ गया ॥ ७८ ॥

अतीतदृग्वर्त्मनि हेमहंसे क्रमादुपेतेषु चमूचरेषु ।
शरीरमात्रेण पुरं प्रतस्थे नलोऽन्वगच्छन्मनसा तमेव ॥ ७९ ॥

स्वर्ण-हंस के आंखों से ओझल हो जाने पर एवं अनुचर-समूह के निकट आने पर केवल शरीर से ही राजा नगर की ओर चले। किन्तु मन तो हंस का ही अनुगमन कर रहा था ॥ ७९ ॥

प्रेम्णाह्वयन्तीमिव दीर्घदीर्घैः प्रदोषशङ्खध्वनिभिर्विदूरात् ।
संध्यांशुदम्भादनुबद्धरागां नलः प्रपेदे कुलराजधानीम् ॥ ८० ॥

दूर से ही जोरों से की जाती हुयी सायंकालीन शङ्खध्वनि द्वारा प्रेम-

पूर्वक उन्हें बुला रही है। ऐसी सन्ध्याकालीन किरणों की लालिमा से युक्त राजधानी में राजा नल ने प्रवेश किया ॥ ८० ॥

तदद्भुतं तस्य वनान्तवृत्तं सुहृत्सु शंसत्सु परस्परेण ।
स्मरन्मुहुः स्वर्णविहंगमस्य निशामनैषीन्निषधेन्द्रसूनुः ॥ ८१ ॥

निषधपुत्र नल ने वन के उस अद्भुत वृत्तान्त को मित्रों के बीच कहते हुए बार-बार उसी स्वर्ण मृग का ध्यान कर रात बितायी ॥ ८१ ॥

वनेषु तस्याचरितं चरेण विज्ञाय राज्ञो भृशमुत्सुकस्य ।
प्रत्यूपकृत्यं विधिवद्विधाय मूर्ध्ना ववन्दे चरणौ कुमारः ॥ ८२ ॥

राजा नल प्रातःकालीन कृत्य समाप्त कर दूत के द्वारा वन के वृत्तान्त को जानकर अत्यन्त उत्सुक राजा (वीरसेन) के चरणों में प्रणाम किया ॥ ८२ ॥

अथाभिनन्द्यात्मजमादरेण दोर्भ्यां परिष्वज्य पतिः पृथिव्याः ।
मौलेष्वमात्येषु दृशौ निवेश्य प्रमोदबाष्पाकुलमित्युवाच ॥ ८३ ॥

आदरपूर्वक पुत्र का अभिनन्दन कर बाहों द्वारा आलिङ्गन कर (पुत्र के) मस्तक पर एवं अमात्यों पर दृष्टि डालते हुए आनन्दाश्रु से पूर्ण महाराजा (वीर-सेन) बोले ॥ ८३ ॥

गुणैरुदारैर्विनयावतंसैर्निरस्तसाम्येन भुजौजसा च ।
आरोपितोऽहं धुरि पुत्रभाजां वत्स त्वयाविष्कृतपौरुषेण ॥ ८४ ॥

हे वत्स, तुमने अपने उदार गुणों से, विनय से, अतुलनीय भुजाओं की शक्ति से एवं पौरुष के कारण पुत्रवान् लोगों के बीच मुझे श्रेष्ठ बना दिया ॥ ८४ ॥

अद्य प्रभृत्येव नरेन्द्रलक्ष्मीर्मयानुशिष्टास्तु वशंवदा ते ।
श्रेयस्तपःसाधनमेव राज्ञां ज्ञातानुभावेषु तनूद्भवेषु ॥ ८५ ॥

आज से ही मुझ से शासित यह राज-लक्ष्मी तुम्हारे अधिकार में चली जाए। विदित है प्रभाव जिसका ऐसे (तुम्हारे समान) पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर राजाओं के लिये तप की साधना ही उचित है ॥ ८५ ॥

तदेष रक्षाविधये प्रजानां नक्तंदिवं जाग्रदवाप्तखेदः ।
धुरं धरित्र्यास्त्वयि संनिवेश्य चिराय विश्राम्यतु वीरसेनः ॥ ८६ ॥

दुःखरहित होकर दिन-रात सतर्कतापूर्वक प्रजा की रक्षा करने के लिए पृथ्वी का भार तुम को सौंप कर यह वीरसेन चिरकाल तक विश्राम करें ॥ ८६ ॥

निवार्यमाणोऽपि मुहुः प्रणम्य नलेन बद्धाञ्जलिसंपुटेन ।
निवेश्य तस्मिन्नवनीन्द्रलक्ष्मीमुपाददे लक्ष्म तपोधनानाम् ॥ ८७ ॥

हाथ जोड़कर बार-बार प्रणाम कर नल द्वारा रोके जाने पर भी वीरसेन ने नल पर पृथ्वी का भार रख तपस्वियों का भेष धारण किया ॥ ८७ ॥

स बाष्पमोचैरपि न क्षमोऽभूत्पितुः समारम्भनिवर्तनाय ।
विपर्ययं नैति महात्मनां हि प्रतिश्रुतोऽर्थः प्रतिबन्धकेन ॥ ८८ ॥

आंसू बहाकर भी नल अपने पिता को इस निश्चय से न लौटा सके । महात्माओं का निश्चित उद्देश्य बाधाओं के कारण नहीं बदलता ॥ ८८ ॥

अनुप्रयातः सह पौरवर्गैर्नलेन पर्यश्रुविलोचनेन ।
चिरावृतः क्ष्मातिलकः प्रतस्थे तपोवनं निर्विषयाभिलाषः ॥ ८९ ॥

पीछे-पीछे आते हुए पुरवासियों एवं नल से जिसकी आंखें अश्रुपूर्ण हैं, देर तक घिरे हुए पृथ्वी के तिलक महाराज वीरसेन ने इच्छारहित होकर वन की ओर प्रस्थान किया ॥ ८९ ॥

शोकाग्निवेगं वचनामृतेन चिरान्मृदूकृत्य नृपः सुतस्य ।
तं पौरमुख्यैः स्वपुरं प्रवेश्य चकार वश्येन शरीरवृत्तिम् ॥ ९० ॥

राजा वीरसेन ने पुत्र के शोकरूपी अग्नि को अपनी अमृतोपम वाणी से देर तक शान्त कर उसे नगर-प्रमुखों के साथ लौटाकर अपनी इन्द्रियों को वश में किया ॥ ९० ॥

वैखानसैर्मुनिजनैरभिनन्द्यमानः संसिद्धिमाप तपसः किल वीरसेनः ।
भेजे नलस्त्वखिलपार्थिवमौलिरत्नैर्नीराज्यमानचरणः पृथिवीन्द्रलक्ष्मीम्

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये नलचरिते नलसाम्राज्यलाभो नाम प्रथमः सर्गः ।

महाराज वीरसेन ने वैश्वानर मुनियों से अभिनन्दित होते हुए तप के द्वारा सिद्धि प्राप्त की । राजाओं की मुकुट-मणियों से उतारी जा रही है आरती जिनके चरणों की ऐसे राजा नल ने पृथ्वी की इन्द्रतुल्य लक्ष्मी का भोग किया ॥ ९१ ॥

श्री सांधविग्रहिक श्री कृष्णानन्द-कृत सहृदयानन्द महाकाव्य के नल-चरित का नल-साम्राज्य-लाभ नामक प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

द्वितीयः सर्गः

ततोऽभ्यषिञ्चन्विधिवन्नलं द्विजाः सतां प्रमोदात्तरलं मनोऽभवत् ।
चकार लक्ष्मीः पदमस्य वक्षसि प्रपेदिरे संपदमूर्जितां प्रजाः ॥१॥

ब्राह्मणों ने नल का विधिपूर्वक सम्मान किया, सज्जनों का मन आनन्द से गद्गद हो उठा । इनके हृदय में लक्ष्मी ने निवास किया और प्रजा ने भी अधिक सम्पत्ति-लाभ किया ॥ १ ॥

नरेन्द्रलक्ष्म्याः परिरम्भसंभवां यथा न भेजे मुदमूर्जितां नलः ।
पितुः सपर्याविरहेण संभृतां यथोपलेभे परितापसंपदम् ॥ २ ॥

पूज्य पिता की सेवा से विरहित होने से जितना नल को कष्ट हुआ, उतना राज्य-लक्ष्मी की प्राप्ति से आनन्द नहीं मिला ॥ २ ॥

अपि स्वयं पार्थिवनीतिपारगः स मन्त्रिणां संमतिमन्ववर्तत ।
विधूदयासादितवृद्धिरम्बुधिर्न जातु वेलामभिलङ्घ्य गच्छति ॥ ३ ॥

स्वयं राजनीति में पारङ्गत होने पर भी वे मन्त्रियों की सम्मति का अनुसरण करते थे । चन्द्रोदय से बढ़ा हुआ समुद्र भी अपनी सीमा का उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ३ ॥

धृतोदये सीदति कैरवं रवौ तुषारभानौ कमलं निमीलति ।
अशेषमुच्चैर्मुदमाददे जगन्निषेव्यमाणे तु नले नृपश्रिया ॥ ४ ॥

सूर्य के उदित होने पर कुमुद बन्द हो जाते हैं और चन्द्रमा के उदित होने पर कमल बन्द हो जाते हैं । किन्तु राजा नल से सेवित राज्य-लक्ष्मी से सभी को अतिशय आनन्द मिला ॥ ४ ॥

नवोदयेनेव सहस्रभानुना स्वमण्डलं तेन समन्वरज्यत ।
अमुष्य तेजस्तु विसारि सर्वतः पुरं द्विषामेव बभूव दुःसहम् ॥ ५ ॥

जिस तरह नवोदित सूर्य अपने मण्डल को अनुरञ्जित करता है उसी तरह राजा नल ने भी अपने मण्डल को अनुरक्त किया । इनका (राजा नल का) तेज चारों तरफ फैल कर केवल शत्रुओं के लिए ही असह्य हुआ । किन्तु सूर्य का तेज तो सबके लिए असह्य है ॥ ५ ॥

शरीरभाजां करणीयसाक्षिणः परेषु मित्त्रेषु च तुल्यवृत्तयः ।
विचेरुरेतस्य दिने दिने चराः करास्तुषारेतरदीधितेरिव ॥ ६ ॥

मनुष्यों के कार्य के साक्षी, अपने पराये में समभाव रखने वाले इनके दूत प्रतिदिन सूर्य की किरण के समान घूमते थे। (सूर्य की किरणें भी जीवों के कार्य की साक्षी हैं एवं वे भी किसी में भेद-भाव नहीं करतीं) ॥ ६ ॥

प्रविश्य रन्ध्राणि तनून्यपि द्विषामुदीरयामास स वृत्तिमौरगीम् ।
शिरांसि तुङ्गान्युपनीय नम्रतां वितेनिरे तत्र परे तु वैतसीम् ॥ ७ ॥

राजा नल ने शत्रुओं के संकीर्ण छिद्र में भी प्रवेश कर सर्प के समान अपना विस्तार किया। अन्य लोगों ने वेंत के समान अपने उन्नत मस्तक को झुका लिया ॥ ७ ॥

अपि त्रिलोकीं विजहार लीलया निरर्गलं दोर्द्रविणार्जितं यशः ।
अमुष्य मन्त्रस्तु कदाचिदाययौ न कर्णमूलान्यपि पार्श्ववर्तिनाम् ॥ ८ ॥

वाहुओं से अर्जित इनका यश निर्बाध-रूप से तीनों लोकों में फैल गया। किन्तु इनकी (गुप्त) मन्त्रणा निकटवर्ती लोगों के कान के अग्रभाग तक भी नहीं पहुँच पाती थी ॥ ८ ॥

यथेन्द्रियाणां निवहो निजं निजं विहाय नान्यं विषयं निषेवते ।
तथा जनस्तेन कृतानुशासनः पथः स्वकीयादपरं न शिश्रिये ॥ ९ ॥

जिस प्रकार इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को छोड़ कर किसी दूसरे (इन्द्रिय) के कार्य का सेवन नहीं करतीं उसी प्रकार इनसे अनुशासित मनुष्य भी अपना-अपना मार्ग छोड़ कर दूसरे के मार्ग पर नहीं चले ॥ ९ ॥

निरूपिते वर्त्मनि शास्त्रचक्षुषा पदं वितन्वन्नकृताङ्गपीडनः ।
अणीयसोऽपि प्रकटीकृताङ्कुरानलुण्ठयत्क्ष्मातिलकः स कण्टकान् ॥१०॥

राजा नल, शास्त्ररूपी दृष्टि से मार्जित पथ पर बिना किसी को पीड़ित किए पैर रखते थे। पृथ्वी के तिलकभूत राजा नल, छोटे से भी अंकुरित काँटे को मिटा देते थे ॥ १० ॥

निरर्गलं शैलवनाभिगामिनीमपीडयन्नेव करेण गामसौ ।
वृषं पुरस्कृत्य समीहितं दुहन्नदृष्टपूर्वां स्फुटमाप गोपताम् ॥ ११ ॥

असीम पहाड़ी जंगलों से युक्त पृथ्वी को (गो-पक्ष में—निर्बाध रूप से पहाड़ी जंगल की ओर जाने वाली गौ को) कर से (गौ-पक्ष में हाथ से) धर्म को (गौ-पक्ष में बछड़े को) सामने रख इच्छापूर्वक दुहते हुए, पहले कभी न देखे गए विचित्र रक्षकत्व (गो-पक्ष में ग्वालेपन) को प्राप्त किया ॥ ११ ॥

न केवलं दण्डभयाज्जनोऽखिलस्तदाभवत्तत्करतापसंमुखः ।
अभून्न तादृग्विषयोऽपि देहिनां मनोरथो येन जगाम वन्ध्यताम् ॥१२॥

केवल दण्ड-भय से ही सभी मनुष्य उनके कररूपी तेज के सम्मुख नहीं

हुए (अर्थात् कर भय के कारण ही नहीं देते थे) अपितु लोगों के लिए कोई ऐसी चीज नहीं थी जिसकी अभिलाषा निष्फलता को प्राप्त हुयी हो ॥ १२ ॥

निरङ्कुशस्तस्य यशोमतङ्गजः प्रतापसिन्दूररजोरुणाननः ।
निरस्य यन्तारमितस्ततश्चरन्नरिद्विपानां समशोषयन्मदम् ॥ १३ ॥

प्रताप रूपी सिन्दूर से रक्त वर्ण का है मुख जिसका ऐसा निरङ्कुश यश रूपी हाथी ने महावत को दूर कर इधर-उधर घूमता हुआ शत्रु रूपी हाथियों के मद को सोख लिया ॥ १३ ॥

इति व्यपास्य व्यसनान्यनारतं प्रपास्यतस्तस्य मह्रीं महीभुजः ।
उपायनीकर्तुमिवावनीरुहां प्रसूनकोषादुदभून्नवो मधुः ॥ १४ ॥

इस प्रकार निरन्तर व्यसनों से रहित होकर महाराज नल के पृथ्वी का पालन करते रहने पर, मानो उपहार देने के लिए वृक्षों के पुष्प कोश से नवीन मधु उत्पन्न हुआ ॥ १४ ॥

शरीरभाजां जनयिष्यते मुदं निदेशलाभादिव मेदिनीपतेः ।
न वासरस्तीव्रतरातपोऽभवन्निशापि नातीव तुषारदूषिता ॥ १५ ॥

पृथ्वीपति नल के आदेश से मानों मनुष्यों के आराम के लिए दिन में प्रचण्ड धूप नहीं हुयी एवं रातें हिम से शीतल नहीं हुयीं ॥ १५ ॥

अनुप्रतस्थे मलयाद्रिमारुतस्त्विषांपतिं प्रस्थितमुत्तरां दिशम् ।
विहाय मार्गं महनीयतेजसां निजेच्छया चेष्टितुमुत्सहेत कः ॥ १६ ॥

सूर्य के उत्तरायण हो जाने पर मलयाचल से आती हुयी हवा ने भी उनका अनुगमन किया । महातेजस्वी सूर्य के मार्ग को छोड़कर अपनी इच्छा से प्रयत्न करने का साहस कौन कर सकता है ॥ १६ ॥

सरोरुहाणां सुहृदां पराभवादवाप्तविद्वेष इवानुवासरम् ।
क्रमेण संपादितपाटवैः करैर्जहार नीहारपरम्परां रविः ॥ १७ ॥

प्रिय कमलों के (शीत के कारण) नष्ट होने से द्वेषयुक्त सूर्य ने प्रतिदिन अपनी निपुण किरणों से हिम को दूर किया ॥ १७ ॥

विलोक्य रत्नाकरमेखलां भुवं स्ववंशकेतावनुरागिणीं नलः ।
प्रमोदलाभादिव शीतदीधितिः प्रसादसंपत्तिमवाप कामपि ॥ १८ ॥

समुद्र है करधन जिसकी (अर्थात् समुद्र से घिरी हुयी) ऐसी अपने वंश में अनुरागवती पृथ्वी को देखकर राजा नल ने चन्द्रमा के समान प्रसन्नता प्राप्त की ॥ १८ ॥

हितं प्रजानां सततं विधित्सतः क्षणप्रदानार्थमिवास्य भूपतेः ।
निरस्य रात्रेः परिणाहसंपदं रविर्दिनं द्राघयितुं प्रचक्रमे ॥ १९ ॥

निरन्तर प्रजा का हित साधन करने वाले राजा नल को (कार्य के लिए) अधिक समय देने के लिए सूर्य ने रात्रि की दीर्घता को घटाकर दिन को वड़ा करना प्रारम्भ किया ॥ १६ ॥

लताः परीरम्भमवाप्य निर्भरं नभस्वतश्चन्दनशैलजन्मनः ।
समुल्लसन्नूतनपल्लवच्छलाद्वयजृम्भयन्रागमिवान्तरं वहिः ॥ २० ॥

मलयाचल से आती हुयी हवा का पूर्णतः आलिङ्गन कर लताओं ने खिलते हुए नवीन पल्लवों के वहाने आन्तरिक स्नेह को वाहर प्रगट किया ॥ २० ॥

विचुम्बनेऽपि क्षमतामनागता वितन्वती केवलमुत्सवं दृशोः ।
वभूव मुग्धा सहकारमञ्जरी पिकस्य मौनव्रतभञ्जने पटुः ॥ २१ ॥

(नवाङ्कुरित कोमलता से) चुम्बन के अयोग्य केवल आँखों को आनन्दित करने वाली मुग्ध आम्र मञ्जरियाँ कोयल का मनोव्रत भङ्ग करने में समर्थ हुयीं ॥ २१ ॥

मयैव कृत्स्नं जगदद्य निर्जितं वयस्य दूरेऽस्तु शरव्ययस्तव ।
इतीव पुंस्कोकिलकूजितच्छलादुदीरयामास मधुर्मनोभवम् ॥ २२ ॥

"मैंने आज समूचे संसार को जीत लिया इसलिए हे मित्र ! तुम अपना वाण दूर ही रखो" इस प्रकार कोयल के कूजन के वहाने मानों वसन्त ने कामदेव से कहा ॥ २२ ॥

प्रसूनसौरभ्यहरं समीरणं नियन्तुमभ्युत्सुकतामुपागताः ।
विलोलपुष्पंधयमण्डलीमिषादुदक्षिपन्पाशमिवायसं द्रुमाः ॥ २३ ॥

फूलों की गन्ध चुराने वाली हवा को पकड़ने के लिए उत्सुक वृक्षों ने लोहे के जाल के समान मानों चञ्चल मधुप मण्डली को फैलाया ॥ २३ ॥

परागपूरैः करिकेसरोद्भवैः पिशङ्गिताङ्गः समदो मधुव्रतः ।
चिरं वितन्वन्नपि चाटुचातुरीं विमृश्य दीर्घं प्रिययान्वगम्यत ॥ २४ ॥

करिकेसर से उत्पन्न पराग के लगने से भूरे रंग का भंवरा देर तक चाटु-कारिता करता हुआ प्रिया के द्वारा अनुगत हुआ ॥ २४ ॥

लताः परिष्वज्य हठान्नभस्वता विमुच्यमानाः प्रतिलोलपल्लवाः ।
मधुव्रतौघैश्चपलैर्विरेजिरे विमर्दमुक्तैः कवरीभरैरिव ॥ २५ ॥

हठात् चूमकर हवा से गिराये जाने के कारण अल्प पत्तों वाली लता चञ्चल भंवरों से (घिरी रहने के कारण) उसी प्रकार शोभित हुयी जैसे मर्दन से खुले हुए केश विन्यास शोभित होते हैं ॥ २५ ॥

परिस्रवा मूर्ध्नि लवङ्गवीरुधः शिलीमुखालिः सुतरां व्यराजत ।
नभस्वता चन्दनशैलतश्चिरादुपेत्य मुक्ता किमु वेणिरायता ॥ २६ ॥

लवङ्गलता के शिखर पर चञ्चल भंवरों का समूह अत्यधिक शोभि हुआ। भंवरे मलयाचल पर्वत से हवा द्वारा लाकर फैलायी गयी लम्बी वेणी के समान लग रहे थे ॥ २६ ॥

निसर्गशोणैर्ललितः स पल्लवैर्नवैरशोकः स्तवकैरशोभत।
निचीयमानः श्वसितैर्वियोगिनां मनोभवाग्निः किमु राशितां गतः ॥२७॥

प्रकृति से ही लालवर्ण के नवीन पल्लवों के गुच्छों से अशोक वृक्ष सुन्दर लग रहे थे। उनको देखने से ऐसा लग रहा था मानो वियोगियों के श्वास से बढ़ती हुयी कामाग्नि ही इकट्ठी हो गयी हैं ॥ २७ ॥

निराकृतः कण्टकमालया बहिः समाहृतः सौरभसंपदान्तिकम्।
बभूव रोलम्बयुवा न चुम्बितुं प्रभुर्विमोक्तुं च सुवर्णकेतकीम् ॥ २८ ॥

काटों की माला द्वारा बाहर ही रोके गये एवं सौरभ रूपी सम्पत्ति से आकृष्ट भंवरा, सुवर्णकेतकी के फूल को न चूम ही सका और न छोड़ने में ही समर्थ हुआ ॥ २८ ॥

इति प्रगल्भे सुरभौ निरङ्कुशं पिकस्वनैर्गायति मन्मथस्तवम्।
हिरण्मयं पत्त्रिणमेव तं स्मरन्नरंस्त भावेषु न केषुचिन्नलः ॥ २९ ॥

इस प्रकार धृष्ट वसन्त निरङ्कुश होकर मानों कोयल द्वारा कामदेव की वन्दना कर रहा हैं। किन्तु नल स्वर्णमय हंस का स्मरण करते रहे। इनमें से किसी में उनका मन नहीं लगा ॥ २९ ॥

अपाकरिष्यन्नथ मानसीं रुजं नृपः कदाचिद् गृहदीर्घिकां ययौ।
जवातिरेकादवितर्किलतागतिः स चोपतस्थे पतगोत्तमः पुरः ॥ ३० ॥

किसी समय राजा नल मानसिक वेदना दूर करने घर की बावली में गये। वेग के कारण नहीं ज्ञात हुयो उपस्थिति जिसकी ऐसा वह हंस सामने आया ॥ ३० ॥

ससंभ्रमं तौ नयनातिथीकृतौ परस्परं कल्पितबन्धुसत्क्रियौ।
मिथः कथालापरसायनैरुभौ निषेदतुः क्वापि निकुञ्जमन्दिरे ॥ ३१ ॥

वे दोनों हर्षातिरेक से आँखों में एक दूसरे को समाते हुए, परस्पर कल्पित मित्र का सत्कार कर बातचीत करते हुए किसी कुञ्जगृह में बैठे ॥ ३१ ॥

सुरापगाशीकरसङ्गशीतलं पतंगमुत्सङ्गतले निवेशयन्।
विशांपतिः प्रेमवशाद्बिसाङ्कुरं करेण तस्याधिमुखं न्यवेशयत् ॥ ३२ ॥

स्वर्गङ्गा के जलकण के स्पर्श से शीतल उस हंस को समीप बैठाकर राजा-नल प्रेम पूर्वक उसके मुख में बिसतन्तुओं को डालने लगे ॥ ३२ ॥

अनन्तरं स्मेरसरोजसोदरे मुखे नरेन्द्रस्य निवेश्य लोचने।
सुधारसस्यन्दि मनोहरं क्षणादवोचदित्थं वचनं विहंगमः ॥ ३३ ॥

इसके वाद राजा नल के खिले हुए कमल के समान मुख पर दृष्टि डालकर वह हंस इस प्रकार अमृत रस बरसाने वाली मनोहर वाणी बोला ॥ ३३ ॥

अवाप नूनं परिपाकसंपदं वसुंधरायाश्चिरसंचितं तपः ।
पुरंदरं द्यौरिव येयमीश्वरं सखे भवन्तं समुपस्थिता स्वयम् ॥ ३४ ॥

पृथ्वी की चिर संचित तपस्या निश्चय ही पूर्ण हुयी। हे मित्र, स्वर्ग के इन्द्र के समान आपके सम्मुख यह स्वयं उपस्ति हुयी ॥ ३४ ॥

दिने दिने किंनरसुन्दरीजनैः सुखोषितैः कल्पमहीरुहामधः ।
अनन्यसामान्यतया सकौतुकं सुधांशुशुभ्रं तव गीयते यशः ॥ ३५ ॥

प्रति दिन कल्पवृक्ष के नीचे आनन्द पूर्वक बैठी हुयी किन्नर सुन्दरियों के द्वारा चन्द्रकिरणों के समान उज्ज्वल कुतूहल पूर्ण आपका यश असाधारण रूप से गाया जाता है ॥ ३५ ॥

कथाप्रसङ्गेन वयस्य भूभुजां गुणोत्तरं पृच्छति वृत्रवैरिणि ।
उदाहरन्ति प्रथमं सकौतुकाः पुनः पुनस्त्वां सुरसिद्धचारणाः ॥ ३६ ॥

हे मित्र, वार्तालाप के क्रम में इन्द्र द्वारा राजाओं के गुणों के बारे में पूछे जाने पर देवता, सिद्ध एवं चारण गण कुतूहल पूर्वक सबसे पहले बार-बार आपके सम्बन्ध में ही कहते हैं ॥ ३६ ॥

अहं च साम्राज्यसुखेऽपि निःस्पृहं मनस्त्वदीयं मयि दूरवर्तिनि ।
विदन्नपि त्वामपहाय यच्चिरं चरामि दूरे शृणु तत्र कारणम् ॥ ३७ ॥

साम्राज्य सुख में भी निस्पृह आपका मन दूरवर्ती मुझमें लगा हुआ है यह जानकर भी मैं आपको छोड़कर अधिक समय तक जो दूर घूमता रहा हूँ इसका कारण सुनें ॥ ३७ ॥

यदैव पूर्वं वनदेवतामुखैर्न्यवेदयं साधयितुं त्वदीप्सितम् ।
तदैव लोकोत्तररूपशालिनीं तवोपनेतुं महिषीमचिन्तयम् ॥ ३८ ॥

वन देवताओं के मुख से तुम्हारी जिस अभिलाषा को पूर्ण करने का मैंने पहले निवेदन किया, उसी लोकोत्तर रूपवती रानी को तुम्हारे समीप लाने की चिन्ता में मैं लगा था ॥ ३८ ॥

ततोऽनुरूपां तव रूपसंपदः पुरंदरस्यापि पुरे मृगीदृशम् ।
अपश्यतः स्वीकृतभङ्गशङ्किनः कृतं पदं चेतसि चिन्तया मम ॥ ३९ ॥

इन्द्रपुरी अर्थात् स्वर्ग में भी तुम्हारे अनुरूप सौन्दर्य वाली मृगनयनियों को देखते हुए (तुम्हारी) अस्वीकृति की आशङ्का से मेरा मन चिन्तित हो उठा ॥३९॥

कदापि सेवावसरे दिवौकसां मनोभवं प्राञ्जलिमग्रतः स्थितम् ।
उपास्यमानः सुरसुन्दरीजनैः कुतूहलादित्थमुवाच वासवः ॥४०॥

किसी समय देवताओं द्वारा (इन्द्र की) सेवा के समय हाथ जोड़े हुए कामदेव की उपस्थिति में सुर सुन्दरियों से सेवित इन्द्र ने कुतूहल पूर्वक इस प्रकार पूछा ॥ ४० ॥

जगत्त्रयेऽस्मिन्नितरेतराधिकाः सहस्रशः सन्ति मनोरमाः स्त्रियः।
वशंवदं विश्वममूर्वितन्वते त्वयोपदिष्टैस्तु विलासचेष्टितैः ॥४१॥

इन तीनों लोकों में एक दूसरे से बढ़कर हजारों सुन्दरी स्त्रियाँ हैं। तुमसे सिखायी गयी विलास चेष्टाओं से यह समूचा विश्व वश में हो जाता है ॥ ४१ ॥

ततः प्रसूनाशुग वामचक्षुषां विशेषितत्वं त्वमवैषि केवलम्।
निरस्य दाक्षिण्यमुदाहरस्व तां गुणैः स्वरूपेण च या विशिष्यते ॥४२॥

हे कामदेव केवल तुम्हीं वामलोचनाओं की विशेषता पहचानते हो। इसलिए पक्षपात को छोड़कर उसके विषय में बताओ जो गुण एवं स्वरूप में सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ४२ ॥

निजेषु रूपातिशयेषु संशयं प्रयाति वृन्दारकसुन्दरीजने।
कुतूहलेनोत्तरलेषु नाकिनां गणेष्वनङ्गः शतमन्युमब्रवीत् ॥ ४३ ॥

अपने अपने अतिशय रूप लावण्य में देव सुन्दरियों के सन्देह युक्त हो जाने पर एवं कुतूहल पूर्वक देव समूह के उत्कण्ठित हो जाने पर कामदेव ने इन्द्र से इस प्रकार कहा ॥ ४३ ॥

जगत्त्रये किंचिदपीह विद्यते न ते सहस्राक्ष परोक्षतां गतम्।
तथापि यन्मामनुयोक्तुमीहसे विधेयतां मे सफलीकरोषि तत् ॥ ४४ ॥

हे सहस्राक्ष, संसार का कोई भी पदार्थ आपकी आँखों से छिपा नहीं है। फिर भी मुझसे जानने की जो इच्छा आपने व्यक्त की है वह मेरी जानकारी को सफल करने के लिए ही है ॥ ४४ ॥

पुरी विदर्भा विदितैव ते विभो निजैर्गुणैर्या विजिगीषते दिवम्।
भुनक्ति तां वैरिषु भीमविक्रमः प्रभुर्भुवो भीम इति प्रथां गतः ॥ ४५ ॥

हे प्रभु, विदर्भ नगरी को तो आप जानते ही हैं जो अपने गुणों से स्वर्ग को भी जीतती है। शत्रुओं के बीच भीमतुल्य पराक्रम वाले भीम नाम से प्रसिद्ध राजा उस नगरी का पालन कर रहे हैं ॥ ४५ ॥

सुतां स लेभे कमनीयविग्रहां प्रसाद्य भक्त्या दमनाह्वयं मुनिम्।
अतोऽस्य नाम्नैव कृतोपलक्षणा जनेन साभूद्दमयन्त्युदीरिता ॥ ४६ ॥

राजा भीम ने दमन नामक मुनि को प्रसन्न कर सुन्दर अवयवों वाली पुत्री को प्राप्त किया। इस पर ही नाम रखे जाने से लोगों के द्वारा वह "दमयन्ती" कही जाती है ॥ ४६ ॥

असौ जगन्नेत्रचकोरचन्द्रिका विसारिलावण्यतरङ्गदीर्घिका ।
अलंकृता नातिचिरात्कृशोदरी वयोविशेषेण मदेकवन्धुना ॥ ४७ ॥

यह तीनों लोकों के चकोर की चन्द्रिका है, फैले हुए सौन्दर्य रूपी तरङ्ग की वापी है । अभी ही वह कृशोदरी मेरे एक बन्धु यौवन से अलंकृत हुयी है ॥४७॥

कुतूहलेनोत्तरलो यदा विधिः शिरीषपुष्पादपकृष्य मार्दवम् ।
करिष्यते काञ्चनयष्टिगोचरं वपुस्तदास्यास्तुलनामुपैष्यति ॥ ४८ ॥

यदि ब्रह्मा शिरीष पुष्प से कोमलता लेकर स्वर्णयष्टि के समान दिखायी पड़ने वाले शरीर को बनायें तब कहीं इस दमयन्ती के शरीर की तुलना हो सकती है ॥ ४८ ॥

निसर्गसौरभ्यदरिद्रतां यदा कलापिनः पिच्छभरं विमोक्ष्यति ।
मृगीदृशोऽस्याश्चिकुरोत्करश्रियस्तदोपमानं सुलभं भविष्यति ॥ ४९ ॥

यदि मोर के पंख स्वाभाविक गन्धहीनता को छोड़ दें तब उनसे इस मृग-नयनी के बालों की उपमा दी जा सकती है ॥ ४९ ॥

सुधामयूखेऽपि कलङ्कदूषिते प्रदोषसंकोचिषु पङ्कजेष्वपि ।
विलज्जितः शिल्पमदोद्धुरो विधिर्व्यधत्त तस्याः कमनीयमाननम् ॥५०॥

चन्द्रमा में कलङ्क होने से रात में कमलों के संकुचित हो जाने से अपने शिल्प पर गर्वित कुशल ब्रह्मा ने लज्जित होकर इस दमयन्ती के सुन्दर मुख को बनाया ॥ ५० ॥

शरैर्मदीयैरपि कुण्ठता श्रिता वशीकृतान्तः करणेषु केषुचित् ।
मृगीदृशोऽस्यास्तु दृगन्तविभ्रमः करोति तेषामपि धैर्यविच्युतिम् ॥५१॥

जिन जितेन्द्रियों पर मेरा बाण भी कुण्ठित हो गया उनका धैर्य भी इस मृगनयनी के नयन विलास से छूट जाता है ॥ ५१ ॥

कुरङ्गमुत्सङ्गशयं शरद्विधुर्विधूय धत्ते यदि तद्दृशो परम् ।
मृगेक्षणायाश्चदुलाक्षमाननं तदा निकामं तुलनामुपैष्यति ॥ ५२ ॥

यदि शरद्कालीन चन्द्रमा, गोद में सोये हुए मृग को हटाकर उसकी आँखें धारण करे तब इस मृगनयनी के चञ्चल नेत्रों से युक्त मुख की तुलना प्राप्त कर सकता है ॥ ५२ ॥

निमीलयन्त्यारुणरत्नदीधितिं विलज्जयन्त्या नवपल्लवश्रियम् ।
समुल्लसन्त्याधरकान्तिसंपदा विकासिबन्धूकमधः करोति सा ॥ ५३ ॥

लाल रत्नों की कान्ति को मन्द करती हुयी नव पल्लव के सौन्दर्य को लज्जित करती हुयी अपने अधरों की कान्ति से उल्लसित वह दमयन्ती बन्धूक पुष्प को भी नीचा दिखाती है ॥ ५३ ॥

इमौ मृदू निर्भरमस्मि कर्कशं स्थितिः सहाभ्यां मम नैव सांप्रतम् ।
इतीव तस्याः परिणाहसंपदा भुजौ विदूरं नुदति स्तनद्वयम् ॥५४॥

"ये दोनों अत्यन्त कोमल हैं, और मैं अत्यन्त कठोर हूं। इसलिए इनके साथ मेरा रहना उचित नहीं है।" इस प्रकार भुजाओं से दूर उसके दोनों स्तन कह रहे हैं ॥ ५४ ॥

तदीयमालोहितपाणिपल्लवं शिरीषमालामृदुलं भुजद्वयम् ।
विडम्वयन्भाति मृणालकाण्डयोरधोमुखस्मेरसरोजयोः श्रियम् ॥ ५५ ॥

उसके लालवर्ण के करकिसलय शिरीष पुष्प की माला के समान दोनों भुजाएँ, मृणालदण्ड के ऊपर खिले हुए कमल को शोभा को हंसते हुए शोभित हो रहे हैं ॥ ५५ ॥

विधाय मध्यं सुतनोस्तथा तनुं बभूव तद्भङ्गभयाकुलो विधिः ।
यदेष पश्चात्त्रिवलीमिषादमुं चकार हैमैर्वलयैर्वृतं त्रिभिः ॥ ५६ ॥

इस सुन्दर शरीर वाली दमयन्ती की कमर ब्रह्मा ने इतनी पतली बनायी कि उन्हें टूट जाने का भय हुआ। इसलिए (मजबूती के लिए) त्रिवली के बहाने सोने के तीन वलयों से घेर दिया ॥ ५६ ॥

परस्परस्यास्पदलङ्घनैषिणोर्निवारणाय स्तनयोर्मृगीदृशः ।
तनूरुहश्रेणिमिषान्नवं वयः करोति सीमानमिवानयोरधः ॥ ५७ ॥

एक दूसरे के स्थान का उल्लङ्घन करने की इच्छा वाले इस मृगनयनी के स्तनों को रोकने के लिए युवावस्था ने रोमपङ्क्ति के माध्यम से इनके बीच में सीमा बना दी ॥ ५७ ॥

किमुच्यतेऽस्याः प्रथिमा नितम्बयोर्यदत्र दृष्टिः पतिता विलासिनाम् ।
चिरं परिभ्रम्य कुतूहलाद्भृशं भ्रमादिवान्यत्र न गन्तुमिच्छति ॥५८॥

नितम्बों की पृथुलता के सम्बन्ध में क्या कहा जाए। (शरीर सौंदर्य) देखने में देर तक घूमने से अत्यन्त थकी हुयी विलासियों की दृष्टि इस पर पड़ते ही अन्यत्र जाने का नाम नहीं लेती ॥ ५८ ॥

निरस्तरम्भातरुरामणीयकं तदीयमूरुद्वितयं विचिन्तयन् ।
अनादरोऽहं विषयान्तरे मुहुः करोम्यसूयाकुटिलेक्षणां रतिम् ॥ ५९ ॥

केले के पेड़ की रमणीयता को जीतने वाले उसके उरुओं को विषय के सोचता हुआ मैं दूसरे का ध्यान करने से, ईर्ष्यावश तिरछी आँखों से देखती हुयी रति का मैं बार-बार अपमान कर रहा हूँ ॥ ५९ ॥

विकस्वरैर्लोहितपङ्कजैस्तुलां विलोक्य पादद्वितयं दमस्वसुः ।
गुणाधिकं कर्तुमिदं समुत्सुकश्चकार धाता नखमु (मौ)क्तिकाङ्कितम् ॥६०॥

खिले हुए कमल के समान दमयन्ती के दोनों पैर देखकर कुछ अधिक वैशिष्ट्य के लिए विधाता ने मोतियों का नख बनाया ॥ ६० ॥

अशेषलावण्यनिधानभाजनं जगत्त्रयीमोहनसिद्धभेषजम् ।
प्रजासृजः शिल्पमहीरुहः फलं वपुस्तदीयं प्रतिभाति मे हृदि ॥ ६१ ॥

मुझे उसका शरीर, सम्पूर्ण सौंदर्य निधि का स्थान, तीनों लोकों को मोहित करने वाली सिद्ध औषधि प्रजा के स्रष्टा ब्रह्मा के शिल्प रूपी वृक्ष का फल प्रतीत हो रहा है ॥ ६१ ॥

इति स्वयं तां स्मृतिजन्मना स्तुतां वचिन्तयन्तः पृथिवीन्द्रनन्दिनीम् ।
स्वधैर्यवन्धेष्वभवन्ननीश्वराः पुरंदराद्याः ककुभामधीश्वराः ॥६२॥

इस प्रकार स्वयं कामदेव से प्रशंसित पृथ्वीन्द्र महाराज भीम की कन्या का चिन्तन करते हुए इन्द्रादि देव एवं दिक्पाल धैर्य धारण करने में असमर्थ हो गये ॥ ६२ ॥

तथागतांस्तानवलोक्य दिक्पतीन्विमृश्य वाक्यं रतिवल्लभस्य च ।
परस्परस्यापि मुखावलोकने विलज्जमानाः सुरसुभ्रुवोऽभवन् ॥६३॥

तत्तद् दिक्पालों की ऐसी अवस्था देखकर कामदेव की बातों का स्मरण करती हुयी सुरसुन्दरियाँ एक दूसरे का मुख देखने में भी लज्जा का अनुभव करने लगीं ॥ ६३ ॥

शरत्तुषारद्युतिविम्बसोदरं तिलोत्तमायास्तमसा वृतं मुखम् ।
स्वदेहसौन्दर्यविशेषसंभृतो मदालसायाः शिथिलोऽभवन्मदः ॥ ६४ ॥

शरद्कालीन चन्द्रमा के शीत मण्डल के समान कान्तियुक्त तिलोत्तमा का मुख भी काला पड़ गया, अपने शरीर के सौन्दर्य से उत्पन्न मदालसा का मद भी चूर हो गया ॥ ६४ ॥

अभूदभिध्यानपरेव निश्चला सुलोचना मुद्रितलोचनोत्पला ।
अदीर्घनिःश्वासविधूसराधरा स्थिता सखीमध्यगता सुमध्यमा ॥ ६५ ॥

सुलोचना ध्यानस्थ की तरह नेत्र कमल को मूँदकर निश्चल हो गयी। अपने दीर्घ निश्वासों से सफेद ओठों वाली सुमध्यमा अपनी सखियों के बीच स्थित थी ॥ ६५ ॥

अपि त्रिलोकीबहुमानभाजनं न मेनकाऽमानयदात्मनो वपुः ।
निवेश्य नेत्रद्वितयं स्वपादयोरलम्बुसालम्बत पार्श्वगां सखीम् ॥ ६६ ॥

मेनका ने अब अपने शरीर को तीनों लोकों का आदर पात्र नहीं समझा। उसने अपनी आँखें पैरों पर जमालीं एवं समीपवर्त्ती सखी का अवलम्ब लिया ॥ ६६ ॥

अनिन्ददाशु त्रिदशाभिनन्दितं कलावती केलिकला सुकौशलम् ।
अशेषवृन्दारकदृष्टिबन्धनं सुविभ्रमा विस्मरति स्म विभ्रमम् ॥ ६७ ॥

कलावती ने देवताओं से प्रशंसित सुख क्रीड़ा की निपुणता की निन्दा की। सुविभ्रमा समूचे देवताओं की दृष्टि बाँधने वाले विलास को भूल सी गयी ॥६७॥

कपोलबिम्बं परिघूर्णितालकं निधाय पङ्केरुहसोदरे करे।
चिराय चित्रार्पितयेव निश्चलं स्थितं सखीसंसदि चित्रलेखया ॥ ६८ ॥

कपोलों पर लटकते हुए बालों को अपने कमल सदृश हाथ पर रखकर चित्रलेखा बहुत देर तक चित्रलिखित की भाँति सखियों के समूह में स्थित थी ॥ ६८ ॥

निरायताभिः श्वसितानिलोर्मिभिर्विधुन्वती केलिसरोरुहं मुहुः ।
हृतेव कासारजलात्कुमुद्वती शशिप्रभासीत्तरसैव निष्प्रभा ॥ ६९ ॥

दीर्घ निश्वासानिल की तरङ्गों से लीलाककल को बार-बार हिलाती हुयी शशिप्रभा तालाब से तोड़ी गयी कुमुदिनी के समान शीघ्र ही निष्प्रभ हो गयी ॥ ६९ ॥

अधारयद्वासवधैर्यलोपिनी न जीवितेऽपि स्मरजीविता मनः ।
अहारयत्त्र्यम्बकचित्तहारिणी विदग्धतां गीतिषु मञ्जुगीतिका ॥ ७० ॥

स्मरजीविता जीवित रहकर भी इन्द्र के धैर्य का हरण करने वाले मन को धारण न कर सकी। मञ्जुगीतिका ने शिव के चित्त का भी हरण करनेवाले अपने गीतों की कुशलता को छिपा लिया ॥ ७० ॥

लास्येष्वप्सरसां निरस्य कुतुकं संचिन्त्य भैमीं मुहुः
स्वं स्वं धाम पुरंदरप्रभृतयः सर्वे ययुर्निर्जराः ।
त्वत्कार्यं हृदये निधाय सपदि प्राप्तस्त्वरां भूयसीं
क्षोणीन्द्र त्रिदिवादवातरमहं रम्यां विदर्भामनु ॥ ७१ ॥

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये नलचरिते हंसदर्शनो नाम द्वितीयः सर्गः ।

अप्सराओं के नृत्य से अपने चित्त को हटाकर, भीमपुत्री दमयन्ती का बार-बार स्मरण करते हुए इन्द्रादि सभी देवता अपने-अपने निवास की ओर चले गये। मन में तुम्हारा कार्य रख शीघ्र ही स्वर्ग से मैं पृथ्वीन्द्र के रम्य विदर्भ देश में उतर आया ॥ ७१ ॥

श्री सांधविग्रहिक महापात्र श्री कृष्णानन्द-कृत सहृदयानन्द महाकाव्य में नल-चरित में हंसदर्शन नामक द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ।

—:o:—

तृतीयः सर्गः

तास्तास्ततो दिविषदामवगाह्य वीथीः पाथोमुचामपि पथस्तरसावतीर्य ।
सौधैः सुधांशुधवलैस्त्रिदिवं हसन्ती दृष्टा मया नरपते नगरी विदर्भा ॥

देवताओं की उन गलियों को पार करता हुआ अपने वेग से बादलों वाले रास्ते से उतर कर चन्द्रमा के समान उज्ज्वल अट्टालिकाओं से स्वर्ग को हसनेवाली राजा की विदर्भ नगरी को मैंने देखा ॥ १ ॥

भैमीविलोकनसमुत्सुकमानसेन तस्या मया विचरता क्वचिदप्यदर्शि ।
मध्ये विलाससरसः स्फटिकावनद्धं नातिप्रभूतपरिचारमगारमेकम् ॥२॥

उस दमयन्ती को देखने की उत्सुकता से घूमते हुए क्रीड़ासर के बीच में स्फटिक का बना हुआ अल्प-परिचारकों से युक्त एक भवन देखा ॥ २ ॥

आकल्पशून्यवपुषं मणिभूषणेषु विद्वेषिणीं प्रियसखीभिरुपाहृतेषु ।
आलेख्यवत्फलकमेव निरीक्षमाणां तां तत्र भीमनृपतेस्तनयामपश्यम् ॥

शृंगार से शून्य शरीरवाली, प्रिय सखियों द्वारा लाये गये मणि के आभूषणों में निस्पृह चित्र लिखित की भाँति स्थित, दर्पण का ही निरीक्षण करती हुई विदर्भ देश के राजा की पुत्री दमयन्ती को मैंने वहाँ देखा ॥ ३ ॥

आकर्णिताधिकगुणामवलोक्य भैमीं
भूषां विनापि नयनोत्सवमावहन्तीम् ।
संभावितं हृदि मया मदनस्य जाड्यं
लावण्यवर्णनविधौ वरवर्णिनीनाम् ॥ ४ ॥

जिसके अधिक गुणों की प्रशंसा (कामदेव से) सुन चुका था, ऐसी प्रसाधन से शून्य होती हुइ भी आँखों की शोभा बढ़ानेवाली दमयन्ती को देखकर स्त्रियों के (सौन्दर्य) वर्णन में कामदेव की गणना एवं अल्पज्ञता का मैंने अपने मन में विचार किया ॥ ४ ॥

किंचिद्विषण्णवदनामिव तां विभाव्य तद्भावमिङ्गितलवैरवधारयिष्यन् ।
आसन्नपङ्कजवनेषु निबद्धनीडैः प्रक्रीडितोऽस्मि सह तत्र विलासहंसैः ॥

शरीर से कुछ खिन्न देखकर (अपनी) अल्प चेष्टाओं से उसके भाव को जानने के लिये, निकटवर्ती कमलवन में बनाये हुए घोसलों में क्रीड़ा हंसों के साथ खेलता रहा ॥ ५ ॥

मन्दादरा मधुरभाषिणि केलिकीरे
निष्कौतुका कलरुतास्वपि सारिकासु ।
आसाद्य मां वचसि मानुषनिर्विशेषं
किंचित्कुतूहलवती मयि सा तदासीत् ॥ ६ ॥

मधुर भाषी क्रीड़ाशुकों की उपेक्षा करती हुई कबूतर मैना आदि में कुतूहल-रहित होकर, मनुष्य के समान मेरी वाणी सुनकर वह मेरे विषय में उत्कण्ठित हुई ॥ ६ ॥

अत्रान्तरे सरभसं समुपेत्य काचि-
दन्तर्विजृम्भितविषादवशंवदायाः ।
तस्याः क्षितीन्द्रदुहितुःसविधं प्रपन्ना
प्रेमानुबन्धमधुरां गिरमित्यवादीत् ॥ ७ ॥

इसी समय विषादपूर्ण हृदय से युक्त कोई सखि वशंवदा महाराज की पुत्री दमयन्ती के समीप प्रेमपूर्वक मधुर वाणी में बोली ॥ ७ ॥

शून्या कुरङ्गमदपत्रविशेषकेण गण्डस्थली परिणमल्लवलीविपाण्डुः ।
नैषा कथं विषहते विरहं कृशाङ्गि शोणारविन्दसुहृदः करपल्लवस्य ॥८॥

हे कृशाङ्गि (दमयन्ती) कस्तूरी की चित्र रचना से शून्य, पकते हुए लवङ्गलता के समान पीले वर्ण के तुम्हारे कपोल लालकमल के समान करतल से अलग क्यों नहीं हो रहे हैं ? (अर्थात् हाथ पर गाल रखे क्या सोच रही हो) ॥ ८ ॥

आवर्जितैर्निजकरेण सखि त्वदीयैर्भृङ्गारवारिभिरभूदभिवर्धिता या ।
उज्जृम्भमाणमुकुला नवमालिकापि नैषा कथं वितनुते नयनोत्सवं ते ॥९॥

हे सखि, तुम्हारे हाथों से सींचा जाकर बढ़ा हुआ हरश्रृंगार का वृक्ष एवं कुड्मलों वाली नवमालिका भी कैसे तुम्हारी आँखों को प्रिय नहीं लग रही है ? ॥ ९ ॥

आलक्ष्य मुग्धमुकुलां सहकारशाखां-
तन्वीं निपीडयति निष्करुणः पिकोऽयम् ।
व्यालोलमञ्जुवलयस्वनमांसलाभि-
र्नैनं निवारयसि किं करतालिकाभिः ॥ १० ॥

मञ्जरियों से भरे हुए आम्र वृक्ष को निर्दय शुक पीड़ित कर रहे हैं । यह देखकर भी तुम चंचल एवं सुन्दर कङ्गन की ध्वनि से युक्त अपनी करतल ध्वनि द्वारा (उन्हें) क्यों नहीं हटा रही हो ?

आमोदलोलुपतया परिहृत्य पुष्पं पुष्पंधयाः सरभसं समुपेत्य दूरात् ।
पर्याकुलाः पुनरसी विनिवर्तमानाः संसूचयन्ति तव निःश्वसितेषु तापम् ॥

भ्रमर मण्डली आनन्द के लोभ से पुष्पों को छोड़कर वेगपूर्वक (तुम्हारे पास) आयी, किन्तु पुनः (ताप से) व्याकुल होकर लौटते हुए तुम्हारे श्वासों का ताप सूचित कर रही है ॥ ११ ॥

उत्तंसितेष्वपि तमालदलेषु लोलमालोक्य यं सखि कुतूहलमातनोषि ।
त्वां वीक्ष्य खिन्नहृदयां निहितं मुखेऽपि दर्भाङ्कुरं त्यजत एष कुरङ्गशावः ॥

हे सखि, कान में लटके हुए जिन तमाल पत्रों को दिखाकर तुम चञ्चल मृगों का कुतूहल बढ़ाती थी, वे ही मृग तुम्हें हृदय से खिन्न देखकर मुख में रखे हुए तृणों का भी त्याग कर रहे हैं ॥ १२ ॥

कौतूहलात्करतले विनिवेश्य मुग्धं
वैदग्ध्यभङ्गिषु गिरां सखि यं व्यनैषीः ।
त्वां मौनमास्थितवतीमवलोक्य सोऽयं
क्रीडाशुकोऽपि नव बद्ध इवास्ति मूकः ॥ १३ ॥

हे सखि, उत्सुकतापूर्वक हाथ पर रखकर जिन (शुकों) को वाक्चातुर्य की शिक्षा दिया करती थीं वह क्रीड़ाशुक भी तुमको मौन देखकर, नये पकड़े गये शुक की भाँति मूक बन गया है, बोलता नहीं है ॥ १३ ॥

उत्कूजितेन मधुरेण समाह्वयन्तीमग्रे गतां सहचरीमपि नानुयाति ।
चञ्चूपुटे तव करेण समर्प्यमाणं मुग्धे मृणालमभिकाङ्क्षति केलिहंसः ॥

कुछ दूर आगे चले जाने पर मधुर कूजन से बुलाती हुयी अपनी सहचरी के पीछे भी क्रीड़ा हंस नहीं जा रहा है। वह क्रीड़ा हंस तुम्हारे हाथ से चोंच में मृणाल तन्तु डाले जाने की अभिलाषा कर रहा है ॥ १४ ॥

नैसर्गिकीं कनकचम्पकसोदरीं ते
कान्तिं विलुम्पति कुतः सखि पाण्डुतेयम् ।
तन्वि त्वमेषि पुनरेव कुतस्तनुत्वं
कुल्येव भानुकिरणैः कलिता निदाघे ॥ १५ ॥

हे सखि, स्वर्णचम्पा के पुष्प के समान स्वाभाविक तुम्हारी कान्ति को यह सफेदी कहाँ से (उत्पन्न होकर) मिटा रही है। हे कृशाङ्गि, जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणें छोटे सरों को सुखा डालती हैं, वैसी ही यह कृशता तुम कहाँ से प्राप्त कर रही हो ? (अर्थात् वह कौन सा कारण है जिससे तुम इतनी दुबली होती जा रही हो ॥ १५ ॥

इत्थं तया निगदिते शतशोऽपि सख्या
नाख्यायि किंचिदपि तत्र नरेन्द्रपुत्र्या ।
अन्या तु भावमुपलब्धवती तदीयं
काचिन्न्यवेदयदिदं वचनं वस्या ॥ १६ ॥

उस सखि के द्वारा सैकड़ों बार इस प्रकार कहे जाने पर भी राजपुत्री दमयन्ती ने कुछ भी नहीं कहा। दमयन्ती के मनोभावों को जानने वाली किसी दूसरी सखी ने अपनी प्रिय सखी (दमयन्ती) से इस प्रकार निवेदन किया ॥१६॥

रूपादिभिर्गुणगणैरनुरूपमस्या-
स्तातश्चिराय विमृशन्वरमात्मजायाः।
आलेख्यकर्मकुशलैः फलकेषु कृत्स्ना-
नालेखयत्क्षितिभुजः प्रथितान्ववायान् ॥ १७ ॥

बहुत दिनों से पिता भीम ने अपनी पुत्री के लिए रूप एवं गुणों से युक्त अनुरूप वर खोजते हुए कुशल चित्रकारों द्वारा प्रख्यात वंश के सभी राजाओं का चित्र बनवाया ॥ १७ ॥

कौतूहलेन फलकेषु मयाहृतेषु क्षोणीभृतो विलिखितान्निपुणं निरूप्य।
आसीदियं त्रिजगतामभिनन्दनीये कुत्रापि यूनि विनिवेशितचित्तवृत्तिः॥

कुतूहलवश मुझसे चुराये गये चित्रों में राजाओं का चित्र अच्छी तरह देखकर तीनों लोकों में अभिनन्दनीय किसी युवक में इसका मन आकृष्ट हो गया है ॥ १८ ॥

खेदोज्झितामपि तनूमवसादयन्ती
विश्वं निरावरणमेव तिरोदधाना।
निद्रां विनापि नयने विनिमीलयन्ती
चिन्ता पदं कृतवती हृदये ततोऽस्याः ॥ १९ ॥

खेदरहित होकर भी शरीर की कृशता से चिन्तित, आवरणरहित होकर भी सम्पूर्ण विश्व को तिरस्कृत करती हुयी निद्रा के बिना ही आँखें बन्द किये हुई इस दमयन्ती के हृदय में चिन्ता ने घर कर लिया है ॥ १९ ॥

एणीदृशः प्रबलतापभयादिवास्याः
श्वासानिलाः प्रतिमुहुः प्रसरन्ति दूरम्।
वाष्पाम्बुवीचिषु निमज्जनकातरेव
निद्रा दृशोर्न सविधेऽपि पदं विधत्ते ॥ २० ॥

इस मृगनयनी के प्रबल ताप के भय से श्वासानिल प्रत्येक बार बहुत दूर भाग जाते हैं। आँसुओं की तरंग में कहीं डूब न जायें इस भय से निद्रा आँखों के पास नहीं फटक रही है ॥ २० ॥

उज्जृम्भते भृशमुशीरविलेपनेन धत्ते रुषं कमलिनीदलमारुतेन।
अन्तःस्थमेव सुभगं सततं स्मरन्त्याः संताप एष सुतनोर्बत दुर्निवारः॥

चन्दनादिकों के लेप से इसका ताप और भी बढ़ जाता है। कमलिनी के

पत्ते की हवा से यह रुष्ट होती है। हृदयस्थ अपने प्रिय को स्मरण करती हुई इस सुवदना का संताप दूर करना असम्भव है॥ २१॥

ज्योत्स्नीषु चन्द्रमवलोकितुमक्षमेयं लोलेक्षणा नयनयुग्ममवाञ्चयन्ती।
वीक्ष्याननं स्तनतटे प्रतिबिम्बितं स्वं तच्छङ्कया सपदि वेपथुमातनोति॥

चाँदनी में चन्द्रमा को देखने में असमर्थ जब यह चञ्चलनयनी अपने दोनों नेत्रों को नीचे कर लेती है, तब स्तन प्रदेश में प्रतिबिम्बित अपने मुख को देख कर (उसे ही) चन्द्रमा समझ शीघ्र ही काँप उठती है॥ २२॥

एषा निसर्गसुकुमारतनूविशेषात्
क्षामास्मरेण विषहेत कथं भरं मे।
इत्थं विचिन्त्य किमु निर्गलितं कराभ्यां
क्षोणीतले लुठति कङ्कणयुग्ममस्याः॥ २३॥

स्वभावतः कोमलाङ्गी यह दमयन्ती इतनी क्षीण होकर मेरे भार को कैसे सह सकेगी? शायद यही सोच कर इसके दोनों कङ्गन हाथ से स्वयं निकल कर पृथ्वी पर लोट रहे हैं॥ २३॥

नीरन्ध्रमावृणुत कैरविणीं समेताः क्षौमाञ्चलैः सरभसं समुपेत्य सख्यः।
एषापि नाहमिव दाहवशंवदास्तु संप्रत्यपि प्रणयिनी हतचन्द्रिकासु॥

हे सखि, तुम शीघ्र कुमुदिनी के पास जाकर उसे अपने आँचल से पूर्णतः ढक दो। चांदनी से प्रेम करनेवाली अभागी यह कुमुदिनी भी कहीं मेरी तरह दाह के वशीभूत न हो जाय॥ २४॥

पानाय चन्द्रमहसामसकृद्विलोलश्चञ्चूपुटस्तव चकोर पुरेव मा भूत्।
एतेषु संप्रति सुधामपसार्य सद्यः प्राणापहारि गरलं हि विधिर्व्यधत्त॥

हे चकोर, पीने के लिये बार-बार तुम अपनी चोंच चन्द्रकिरणों के सामने मत फैलाओ। इस समय ब्रह्मा ने उनमें अमृत की जगह शीघ्र प्राण लेने वाला विष ही भर दिया है॥ २५॥

मुञ्चन्ति मुर्मुरकणान्मरुतस्त एव
तान्येव कोकिलरुतानि तुदन्ति कर्णौ।
सख्यः किमेतदिति निःसहमालपन्ती
निद्रां न विन्दति नरेन्द्रसुता निशासु॥ २६॥

उन्हीं हवाओं से इस समय धान की भूसी की-सी आग निकल रही है। कोयल की कूक कानों में पीड़ा पहुँचा रही है। हे सखि! यह सब क्या हो रहा है। इस प्रकार आलाप करती हुयी असहाय राजपुत्री दमयन्ती रात में सो भी नहीं पाती॥ २६॥

स्मेरेषु चन्द्रकिरणैर्वलभीगृहेषु धौतेषु चन्दनरसैर्मणिकुट्टिमेषु।
आरामसीमसु घनद्रुमशीतलासु कुत्रापि निर्वृतिरभून्न विदर्भजायाः॥

चांदनी के समान चमकते हुए वलभीगृह, चन्दन रस से धोये हुए शुभ्र-मणि निर्मित भवन, सघन वृक्षों से शीतल गृहवाटिका आदि किसी भी स्थान में विदर्भ पुत्री दमयन्ती को शान्ति नहीं मिली॥ २७॥

इत्थं रहस्यमभिधाय शनैर्वयस्या तत्कालयोग्यमुपचारविधिं विधित्सुः।
आहृत्य केलिसरसः सरसैर्म्रदिष्ठैः पाथोजिनीकिसलयैः शयनं व्यधत्त॥

इस प्रकार अपनी सखी से गुप्त बातें कहकर तात्कालिक उपचार के लिए क्रीड़ासर से लाकर सरस कोमल पाथोजिनी की शय्या बनायी॥ २८॥

तस्मिन्निसर्गशिशिरेऽपि मृगीदृशोऽस्याः
पाथोजिनीकिसलयास्तरणे लुठन्त्याः।
आसीन्न निर्वृतिलवः शफराङ्गनायाः
कुल्याम्भसीव रविदीधितिदीपितायाः॥ २९॥

इस शिशिर ऋतु में भी पाथोजिनी के पत्ते की शय्या पर लोटती हुयी इस मृगनयनी दमयन्ती को सूर्यकिरणों से दग्ध छोटे तालाब के जल में तड़पती हुयी मछली के समान कुछ भी शान्ति नहीं मिली॥ २९॥

सान्द्रा मृणाललतिका स्मरविक्लवाया-
स्तस्याः सखीभिरधिकण्ठतटं न्यधायि।
श्यामीकृता सपदि तापभरेण सापि
स्निग्धेन्द्रनीलमणिहारतुलामयासीत्॥ ३०॥

सखियों के द्वारा कण्ठ तक रखी गयी मृणाललतिका भी ताप से शीघ्र ही चिकने इन्द्रनीलमणि के हार के समान श्याम वर्ण को हो गयी॥ ३०॥

इत्थं सखीविरचितैः शिशिरोपचारैर्दुर्वारतापरभसामवलोक्य बालाम्।
संवीजयन्किमपि पक्षपुटाञ्चलेन तामित्यवादिषमहं मृदुना स्वरेण॥३१॥

इस प्रकार सखियों के द्वारा किये गये शीतोपचार से न दूर होने योग्य ताप से तप्त बाला को देख कर मैं अपने दोनों पंखों से पंखों झलता हुआ इस तरह मृदुस्वर में बोला॥ ३१॥

एकः स एव तरुणः स्पृहणीयजन्मा तस्यैव पुण्यनिवहः परिणाहशाली।
चेतोभुवस्त्रिजगतीजयवैजयन्ति यः प्रेम पल्लवयितुं निपुणस्तवासीत्॥

जिसका जन्म प्रशंसनीय है ऐसा वह व्यक्ति जो (विश्व में) अकेला ही है। तीनों लोक को जय करनेवाली कामदेव की पताका के समान वह (नल) पुरुष ही तुम्हारा प्रेम बढ़ाने में समर्थ है॥ ३२॥

तन्वन्ति ये त्वयि तनूदरि भावबन्धं
धन्यास्त एव भुवनत्रितये युवानः ।
किं नाम तेऽपि मधुपाः स्मितलेशभाजं
सायंतनीमनुसरन्ति न मल्लिकां ये ॥ ३३ ॥

हे कृशोदरि तीनों लोकों में वे ही युवक धन्य हैं जो तुममें अनुराग बढ़ा रहे हैं। क्या ऐसे भी मधुप हैं जो सायङ्कालीन अधखिली नवमल्लिका का अनुसरण नहीं करते ॥ ३३ ॥

त्वं श्लाघ्यसे शतमखप्रमखैरमर्त्यैः
कीदृग्विधेषु मनुजेषु मृगायताक्षि ।
अभ्यर्थितस्तु तव सुन्दरि दुर्लभो यः
सोऽयं न कस्य हृदि विस्मयमातनोति ॥ ३४ ॥

इन्द्रादि प्रमुख देवताओं द्वारा तुम्हारी प्रशंसा की जाती है। फिर कैसे व्यक्ति के लिए तुम्हारी प्रार्थना है जो तुम्हारे लिए दुर्लभ है ? इससे किस को आश्चर्य नहीं हो रहा है ॥ ३४ ॥

मध्ये विलासविपिनं मणिमन्दिरेषु मन्दारदामभिरलंकृतकुट्टिमेषु ।
शच्यापि सार्धममराधिपतिर्विहर्तुं मन्दादरो भवति सुन्दरि चिन्तया ते ॥

विलासवन के मध्य में स्थित मणिमय भवनों में एवं मन्दार वृक्ष से सुशोभित अट्टालिकाओं पर तथा इन्द्राणी के साथ विहार करने में भी तुम्हारी चिन्ता के कारण इन्द्र उत्साहहीन हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

दाक्षिण्यतः सुरमहीरुहमञ्जरीभिरापिञ्जराभिरवतंसयितुं प्रियायाः ।
अर्धप्रसारितकरोऽप्यमराधिनाथस्त्वच्चिन्तया सुमुखि मन्थरतामुपैति ॥

उदारतावश पिङ्गलवर्ण की मन्दार वृक्ष की कलियों से प्रिया के कानों को सजाने की इच्छा से हाथ को आधा फैलाये हुए भी इन्द्र तुम्हारा ध्यान आते ही शिथिल हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

मध्येऽपि दुग्धजलधेः कलिताधिवासः
संवाह्यमानचरणोऽपि तरङ्गिणीभिः ।
अन्तर्विचिन्त्य भवतीमवनीन्द्रपुत्रि
तापोत्तरं वपुरपामधिपो बिभर्ति ॥ ३७ ॥

हे पृथ्वीन्द्रपुत्रि, क्षीरसागर में निवास करते हुए एवं नदियों से चरण दबाये जाते हुए भी वरुण का शरीर तुम्हारी चिन्ता से अधिक तप्त हो उठता है ॥ ३७ ॥

तन्वि त्वदर्थमनिशं परिपीड्यमानः पञ्चेषुणा धनपतिर्विनिमीलिताक्षः ।
सख्युः सकाशमवसर्पति चन्द्रमौलेस्तन्मौलिचन्द्रमहसः परिशङ्कमानः ॥

हे कृशाङ्गि ! धनपति कुबेर तुम्हें पाने के लिए दिन रात काम से पीड़ित होकर शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा के तेज के भय के कारण अपने मित्र शिव के समीप से हट जाते हैं ॥ ३८ ॥

त्वां भावयन्कनककेतकगर्भगौरि
मन्दादरः प्रणयिनीष्वपि पार्श्वगासु ।
पञ्चाशुगेन सुहृदापि शिलीमुखानां
लक्षीकृतः स्वमपि निन्दति रोचिरिन्दुः ॥ ३९ ॥

हे स्वर्ण केतकी के मध्य के समान गौर वर्ण की दमयन्ती, तुम्हारा ध्यान कर समीपस्थ प्रेयसियों की उपेक्षा करती हुयी भ्रमर मित्र कामदेव द्वारा भेजी गयी चन्द किरणें अपने आपको धिक्कार रही हैं ॥ ३९ ॥

न्यस्तेक्षणस्तव तनौ स्तनबन्धुराङ्गि रागान्ध्यमेत्य भगवानरविन्दबन्धुः ।
भ्राम्यन्मुहुः कनकभूधरमेखलायामाम्रेडितानि वितनोति गतागतेषु ॥

स्तनों के कारण ऊंची नीची शरीर वाली हे सुन्दरी, तुम्हारे शरीर पर दृष्टिपात करते ही भगवान् सूर्य भी प्रेम में अन्धे होकर बार-बार सुमेरु पर्वत के मध्य भाग में घूमते हुए पुनः-पुन आ जा रहे हैं ॥ ४० ॥

सव्यार्धतामुपगतां गिरिशस्य वीक्ष्य क्षोणीधरेन्द्रतनयामवनीन्द्रपुत्रि ।
स्पर्धावती त्वमसि चेद्वद निर्विशङ्कं त्वां दक्षिणार्धमहमस्य करोमि सद्यः ॥

हे पृथ्वीन्द्र पुत्रि, हिमालय पुत्री पार्वती को शिव की वामाङ्गी देखकर यदि तुमको स्पर्धा हुयी हो तो मुझसे निश्शङ्क कहो । मैं शीघ्र हो तुम्हें उनकी दक्षिणाङ्गी बना देता हूँ ॥ ४१ ॥

किं विस्तरेण वचसामपरेण भूयस्त्वं चेत्कुतूहलवती तरलायताक्षि ।
क्षीराम्बुराशितनयामपरामिव त्वां नारायणस्य हृदये विनिवेशयामि ॥

अधिक कहने से क्या लाभ । हे चञ्चल नेत्र वाली, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मैं क्षीर सागर की पुत्री लक्ष्मी के समान तुम्हें भी नारायण की हृदयेश्वरी बना दूं ॥ ४२ ॥

एते मया मखभुजः कथिताः पुरस्ते
ये दुर्लभास्त्रिषु जगत्सु विलासिनीभिः ।
अग्रेसरत्वमुपनेष्यति भाग्यभाजां
त्वत्पाणिपीडनविधिः कतमं तदेषु ॥ ४३ ॥

तीनों लोकों की विलासिनी स्त्रियों के लिए दुर्लभ इन देवताओं के सम्बन्ध में मैंने तुमसे कहा इनमें से कौन सा भाग्यशाली तुम्हारे पाणिग्रहण के लिए अग्रगामित्व प्राप्त करता है (अर्थात् प्रथम चुना जाता है) ? ॥ ४३ ॥

कर्णाभिराममिह मां बहु भाषमाणं
त्वं केलिकीरमिव सुन्दरि मावमंस्थाः ।
वैमानिकोऽस्मि कमलप्रभवस्य तन्मे
लोकेषु सप्तसु न दुष्करमस्ति किंचित् ॥ ४४ ॥

हे सुन्दरी, कानों को प्रियलगनेवाली बातें बोलने वाला मुझे तुम क्रीड़ा-शुक न समझ लेना । कमलोद्भव ब्रह्मा के विमान को ढोनेवाला हूँ, इसलिए मेरेलिए कोई भी कार्य कठिन नहीं है ॥ ४४ ॥

इत्थं मया निगदिता वहुधा मृगाक्षी सा निश्चयं कृतवती वचने मदीये ।
यत्रावलोकितवती तव देहलक्ष्मीं भूयोऽपि तत्फलकमेव हृदि न्यधत ॥

इस प्रकार मेरे वहुत कह चुकने पर उस कमल नयनी ने मेरे वचनों पर विश्वास किया । जिस चित्र में उसने तुम्हारे शरीर के सौन्दर्य को देखा था, उसे ही उसने वार वार हृदय से लगाया ॥ ४५ ॥

तस्मिन्सखे लिखितया तव देहलक्ष्म्या
त्वय्येकतानहृदयामवलोक्य वालाम् ।
आत्मानमाकलयता सफलप्रयासं
भैमी प्रमोदतरलेन मयाभ्यधायि ॥ ४६ ॥

चित्र में वनाये गये तुम्हारे शरीर सौन्दर्य से अभिन्न हृदया उस वाला को देखकर अपना प्रयास सफल समझता हुआ आनन्द से गद्गद मैंने दमयन्ती से कहा ॥ ४६ ॥

त्वं माधवी मधुरसौ जगदेकवीरस्त्वं कौमुदी कुमुदवन्धुरयं नरेन्द्रः ।
आस्तां निरस्तसदृशान्तरयोश्चिराय संवन्ध एष युवयोरभिनन्दनीयः ॥

तुम यदि माधवी लता हो तो वह संसार में अद्वितीय वीर वसन्त है । यदि तुम कौमुदी हो तो यह राजा कुमुदों का मित्र चन्द्रमा ही है । सर्वथा अनुरूप तुम दोनों का अभिनन्दनीय यह सम्वन्ध वहुत दिनों तक बना रहे ॥ ४७ ॥

आश्वास्य तामिति वचोभिरहं दिदृक्षु-
स्त्वां यावदम्वरपथं न समुत्पतामि ।
तावत्तया स्तनतटादपकृष्य हारः
स्वेनैव पाणिकमलेन समर्पितोऽयम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार के वचनों से उसे आश्वासन देकर तुम्हें देखने की इच्छा से जैसे ही मैं आकाश में उड़ा वैसे ही उसने यह हार अपने स्तन प्रदेश से हटाकर अपने ही कर कमलों से (मुझे) समर्पित किया ॥ ४८ ॥

द्राघीयसी हिमरुचेरपि निर्मलेयं वक्षोजकुङ्कुमरजोभिरुदीर्णरागा ।
तस्याः सखे हृदयवृत्तिरिव द्वितीया मुक्तालता हृदि तवास्पदमातनोतु ॥

स्तनाङ्ग राग से युक्त यह लालवर्ण की निर्मल माला हिमकान्ति से भी बढ़कर है। हे मित्र उसके हृदय की दूसरी ही वृत्ति के समान यह मोतियों की माला तुम्हारे हृदय में विराजती रहे ॥ ४९ ॥

मुक्ताकलापमथ तेन समर्प्यमाणं पश्चान्नलः करतले कलयांचकार।
स्वेदोदबिन्दुचयदन्तुरितं समन्तात्प्रागेव तस्य वपुरुत्पुलकं बभूव ॥५०॥

इसके बाद दमयन्ती की दी हुयी मोतियों की माला को राजा नल ने हाथ में धारण किया। स्वेदबिन्दुओं से उनका शरीर रोमांचित हो उठा ॥ ५० ॥

तेनोरसि प्रियसखेन निवेश्यमानमापिञ्जरं मृगदृशः कुचकुङ्कुमेन।
हारं निरीक्ष्य कलितः कुसुमेषुबाणैरन्तर्व्यचिन्तयदिदं सुचिरं नरेन्द्रः ॥

उस मित्र के द्वारा हृदय पर रखे जाते हुए मृगनयनी के कुचकुङ्कुम से पिङ्गलवर्ण के हार को देखकर नरेन्द्र ने मन में निश्चय किया कि यह कामदेव के बाणों से बना है ॥ ५१ ॥

[1]सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः।
बाणैः स्मरस्य शतशोऽपि निकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥ ५२ ॥

हे मोतियों के हार, सुई के अग्रभाग से एक ही बार छिद्र किये जाने पर तुम प्रिया के स्तनप्रदेश में लोटने लगे। किन्तु कामदेव के बाणों के द्वारा सैकड़ों जगह मर्म भेदन किये जाने पर भी मैं उसे स्वप्न में भी नहीं देख पा रहा हूँ ॥ ५२ ॥

प्रत्यक्षरं क्षरदिवामृतनिर्भरौघमाकर्ण्य कर्णमधुरं वचनं खगस्य।
तं मौनभाजमसकृत्परिरभ्य दोर्भ्यामानन्दमन्थरमिदं नृपतिर्बभाषे ॥५३॥

हंस के कर्ण प्रिय एवं अमृतवर्षी वचन सुनकर मौन हुए उस हंस को बाहों में भरकर आनन्द पूर्वक राजा नल इस प्रकार बोले ॥ ५३ ॥

अभ्यर्थितं फलति कल्पतरुः प्रकामं
चिन्तामणिर्दिशति चिन्तितमेव भूयः।
अप्रार्थितानि वितरन्निह चिन्तितानि
कीर्तिं तयोरपि भवानधरीकरोति ॥ ५४ ॥

कल्पवृक्ष मांगने पर ही फल देता है। चिन्तामणि मन्त्र अभिलषित वस्तु ही प्रदान करता है। बिना मांगे ही इच्छापूर्ति कर आपने उन दोनों को कीर्ति को नीचे कर दिया ॥ ५४ ॥

---

१. उदाहृतोऽयं श्लोकः साहित्यदर्पणे.

अत्रान्तरे वियदशोभयदंशुपूरैः पूर्णेन्दुसुन्दरमुखी दिवसान्तलक्ष्मीः।
लब्धोदयैस्त्रिषु जगत्सु गुणैरुदारैर्भैमीव तस्य हृदयं पृथिवीश्वरस्य॥

इसी बीच पूर्ण चन्द्र युक्त सुन्दर मुख वाली सायंकालीन शोभा ने जैसे अपने शुभ्र प्रकाश से आकाश को सुशोभित किया वैसे ही तीनों लोकों में उदित अपने गुणों से दमयन्ती ने पृथ्वीपति राजा नल के हृदय को सुशोभित किया ॥ ५५ ॥

अथ सुहृदि सरोषे वैरसेनिं जिघांसौ
विदधति विषमेषौ चापमारोपितज्यम्।
प्रथयितुमिव भूयस्तस्य साहाय्यमिन्दुः
ककुभि बलभिदः स्वं बिम्बमाविश्चकार॥ ५६ ॥

इति श्रीसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये
नलचरिते हंससंदेशो नाम तृतीयः सर्गः।

इसके बाद वीर सेन के पुत्र (नल) को मारने का इच्छुक क्रोध युक्त मित्र कामदेव के द्वारा चढ़ी हुयी प्रत्यञ्चावाले धनुष धारण कर लेने पर उसकी सहायता करने के लिए चन्द्रमा ने पूर्व दिशा में अपने विम्ब (स्वरूप) को प्रगट किया। ॥ ५६ ॥

श्री सांधि विग्रहिक महापात्र श्री कृष्णानन्द कृत सहृदयानन्द महाकाव्य
में नल चरित में हंससंदेश नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ।

चतुर्थः सर्गः

सुरपतेरपहाय दिशं विधुर्विशदतां क्रमशः समुपाययौ।
मनसि तां विनिवेश्य मृगीदृशं कलयति स्म नलस्त्वनुरागिताम् ॥ १ ॥

इन्द्र की दिशा (पूर्व) को छोड़ कर क्रमशः चन्द्रमा ने पूर्णता प्राप्त की। नल भी उस मृगनयनी को मन में धारण कर अनुराग बढ़ा रहे थे ॥ १ ॥

वहिरुदञ्चति कैरववान्धवे स्फुरति चेतसि मुग्धदृशो मुखे।
समवलम्ब्य बलं सुहृदोर्द्वयोरभिजघान शरैस्तमनन्यजः ॥ २ ॥

वाहर (आकाश) में उदित हुए चन्द्रमा से एवं चित्त में स्फुरित मृगनयनी के मुख से कामदेव ने इन दोनों मित्रों की सहायता से वाण से नल को मारा ॥२॥

विचकिलैः स्मितशालिविकस्वरैः सुरभितं कुमुदैः क्षणदामुखम्।
दुरवलोकमभूदवनीभुजः स्मरशरज्वरकातरचेतसः ॥ ३ ॥

फैले हुए वृक्ष पर खिले हुए विचकिल पुष्पों से एवं कुमुद से सुरभित रात्रि का मुख, काम ज्वर से कातर चित्त वाले राजा को देखने में अच्छा नहीं लगा ॥ ३ ॥

अपि निमीलितमह्नि निशामुखे कुमुदमुल्लसितश्रियमानशे।
हृदयमस्य तदैव महीभुजः समधिकं विधुरत्वमुपाददे ॥ ४ ॥

दिन में संकुचित भी कुमुद ने रात में शोभा धारण की। किन्तु इस राजा के हृदय ने तो इस समय और भी अधिक विधुरत्व धारण किया है ॥ ४ ॥

स्थितिमतां प्रथमोऽपि महाशयः पतिरपां रजनीरमणत्विषा।
अवनिवासवसंभवया तया नल इवोत्तरलत्वमुपाययौ ॥ ५ ॥

स्थिरता धारण करने वालों में अग्रगण्य जलपति समुद्र भी चन्द्रमा की कान्ति से उसी प्रकार तरङ्गित हुआ जिस प्रकार पृथ्वीन्द्र राजा भीम से उत्पन्न दमयन्ती से राजा नल का मन उद्वेलित्त हो उठा ॥ ५ ॥

अपकिरन्नमृतं परितः करैः प्रसृमरैरमृतद्युतिरुज्ज्वलैः।
मुदमुदञ्चयितुं पृथिवीभुजः सरसिजस्य च नाभवदीश्वरः ॥ ६ ॥

अमृतद्युति के समान उज्ज्वल फैली हुयी किरणों से चारो ओर अमृत की वर्षा करता हुआ चन्द्रमा, महाराज नल एवं कमल को आनन्दित करने में सफल नहीं हुआ ॥ ६ ॥

किसलयान्तरसंधिषु पुञ्जितैः शशभृतः किरणैरपि भूरुहाम् ।
असमयेऽपि कथंचिदुदञ्चितैः सुमनसां स्तवकैरिव रेजिरे ॥ ७ ॥

वृक्षों के नव पल्लवों के बीच इकट्ठी चन्द्रमा की किरणें असमय में बाहर से लगाये गये फूलों के गुच्छों के समान सुशोभित हुईं ॥ ७ ॥

शशिरुचः परिपीय मुहुर्मुहुः सपदि तुन्दिलतां समुपेयुषी ।
गृहचकोरवधूर्निजपञ्जरे पृथुतरेऽपि चिराय न संममौ ॥ ८ ॥

बार-बार चन्द्रकिरणों के पीने से एका-एक पेट फूल जाने से घर में रहने वाली (पालतू) चकोर वधू अपने बड़े पिंजड़े में भी नहीं समा सकी ॥ ८ ॥

शशिरुचा शशिकान्तगृहाङ्गने प्रसरदम्बुभरे सरसीयति ।
उडुगणैः परितः प्रतिबिम्बितैरुपहृतः कुमुदोत्करविभ्रमः ॥ ९ ॥

चन्द्रकान्त मणि से निर्मित घर के आँगन में चन्द्रमा की किरणों से फैले हुए जल से तालाव सा बन रहा था। (उसमें) चारो ओर प्रतिबिम्बित तारागणों से कुमुदों का भ्रम उत्पन्न हो रहा था ॥ ९ ॥

उपहसन्निव हंसकदम्बकं विचकिलं कलयन्निव निष्प्रभम् ।
उपहरन्निव हारलताश्रियं शशिरुचां निचयः समरोचत ॥ १० ॥

चन्द्रमा की किरणें हंस कदम्ब का उपहास करती हुई विचकिल के पुष्पों को निष्प्रभ बनाती हुई एवं हारों की शोभा को चुराती हुई अच्छी लग रही थी ॥ १० ॥

कतिचिदम्बर एव तिरोदधे निजकरैरपराः परिषस्वजे ।
अभिससार परा अपि तारकाः सितरुचिर्विकिरन्वसुसंपदम् ॥ ११ ॥

(किरण रूपी) सम्पत्ति लुटाते हुए चन्द्रमा ने मानों आकाश को ही (पृथ्वी पर) नीचे रख दिया अपनी किरणों से दूसरों का आलिंगन किया एवं दूसरे ताराओं के साथ अभिसरण किया ॥ ११ ॥

विकचकैरवसौरभलोलुपैस्तत इतः कलगुञ्जितकैतवात् ।
स्मृतिभुवस्त्रिजगद्विजयार्जितं यश इव भ्रमरैरुदगीयत ॥ १२ ॥

खिले हुए फूलों की सुगन्ध के लोभी भंवरों ने इधर-उधर गुनगुनाने के बहाने मानों तीनों लोकों के जीतने से अर्जित कामदेव के यश का ही गान किया ॥ १२ ॥

अथ हृदि प्रसभं विहितास्पदैः स्मरशरैरिव लम्बितशङ्कया ।
सहजया स च धीरतयोज्झितः खगमिदं निजगाद नरेश्वरः ॥ १३ ॥

हृदय में बलात् प्रविष्ट कामदेव के बाणों के कण्ठगत होने के भय से नराधिप नल सहज धीरतापूर्वक इस हंस को छोड़ कर बोले ॥ १३ ॥

तव निपीय सखे वचनामृतं श्रवणयुग्मसभून्मम शीतलम् ।
तदवधि प्रसभं जहतीव मे हृदयमर्म कथं स्मरमुर्मुरः ॥ १४ ॥

तुम्हारी अमृतवाणी सुनकर मेरे दोनों कान शीतल हो गये। उस समयतक कामाग्नि किस प्रकार मेरे हृदय को जला रहा है ॥ १४ ॥

दहतु नाम सखे मलयानिलः कवलनात्फणिनां विषदूषितः।
अमृतदीधितिरेष सुधामयैरपि करैर्दहतीति महाद्भुतम् ॥१५॥

हे मित्र सर्पों के द्वारा निगले जाने पर विष से दूषित होकर मलयानिल भी जला सकता है। किन्तु अपनी अमृतोपम किरणों से चन्द्रमा भी जला रहा है, यही आश्चर्य है ॥ १५ ॥

ध्रुवमियं मलयानिलचारिणां फणभृतां श्वसितोर्मिपरम्परा।
न पुनरेष स दक्षिणमारुतस्तनुभृतां वितनोति सुखानि यः ॥ १६ ॥

निश्चय ही यह मलयानिल भक्षी सर्पों द्वारा छोड़ी गयी स्वासों की लहरें हैं। ये दक्षिण दिशा से बहनेवाली मलयाचल की वे हवायें नहीं है जो लोगों को आनन्द देती हैं ॥ १६ ॥

दहति मे हृदयं हिमदीधितिस्तुदति चन्दनशैलसमीरणः।
दलयति प्रसभं पिकपञ्चमः किमवलम्ब्य सखेऽस्तु सुखोदयः ॥१७॥

चन्द्रमा की किरणें मुझे जला रही हैं, मलयानिल पीड़ा दे रहा है। कोयल का पंचम स्वर हठात् कष्ट दे रहा है फिर हे मित्र, किसका अवलम्ब धारण कर आनन्दलाभ करूं ॥ १७ ॥

ज्वलति शीतरुचिर्वियदङ्गने तपति दिक्षु मरुन्मलयोद्भवः।
किरति मर्मसु पञ्चशरः शरान्सुखलवोऽपि सखे मम दुर्लभः ॥१८॥

आकाश में चन्द्रमा जल रहा है, दिशाओं में मलयानिल तप रहा है। कामदेव मर्म छेदन कर रहा है। हे मित्र, मेरे लिए तो सुख का लेश भी दुर्लभ है ॥१८॥

स्मृतिभुवो यदि पञ्च शिलीमुखा यदि च ते कुसुमैरुपपादिताः।
अविरतं निपतन्ति सहस्रशः कथमसी हृदयं दलयन्ति च ॥१९॥

यदि कामदेव के पास पांच ही बाण हैं और वे भी फूल के ही हैं, तो कैसे हजारों की संख्या में वाण निरन्तर मेरे हृदय को पीड़ित कर रहे हैं ॥ १९ ॥

हिमरुचिर्दहतीति किमद्भुतं बहिरसौ विशदः कलुषो हृदि।
अबुध एष जनस्तु यदीदृशादपि सुखाधिगमाय समुत्सुकः ॥२०॥

चन्द्रमा यदि जला रहा है तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? वह बाहर से सुन्दर है, किन्तु उसका हृदय तो काला (दूषित) है। वे निश्चय ही अज्ञानी पुरुष हैं जो ऐसे (काले हृदय वाले) व्यक्ति से भी सुख पाने की इच्छा करते हैं ॥ २० ॥

तव सखे रचितोऽद्य मयाञ्जलिः शशधरः स तथा प्रतिबोध्यताम्।
समधिरुह्य निजाङ्कमृगं क्षणादयमुपैति यथास्तमहीधरम् ॥२१॥

हे मित्र, मैं तुम्हें हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ तुम उस चन्द्रमा को इस प्रकार समझाओ कि वह अङ्कस्थ अपने मृग पर चढ़ कर क्षण भर में ही अस्ताचल की ओर चलाजाय ॥ २१ ॥

शशिनमंसतटे विनिवेश्य वा नय सखे चरमाचलकंधरम् ।
तव विरञ्चिविमानक-धुर्यतामुपगतस्य भविष्यति कः श्रमः ॥२२॥

अथवा तुम्हीं उस चन्द्रमा को अपने कन्धे पर बैठाकर अस्ताचल की कन्दरा में ले जाओ । ब्रह्मा का विमान ढोनेवाले तुमको भला इसमें क्या कष्ट होगा ॥२२॥

उदयमद्रिमधिश्रयितुं सखे त्वरय संप्रति वा दिनवल्लभम् ।
वसुसमृद्धिमदं शमयन्विधोर्विरहिणां स भवत्ववलम्बनम् ॥२३॥

हे मित्र, अथवा सूर्य को ही उदयाचल पर्वत पर आने के लिए प्रेरित करो, जिससे वह चन्द्रमा के किरणों की समृद्धता के मद को नष्ट करता हुआ विरहियों के लिए अवलम्ब हो सके ॥ २३ ॥

कथय किं नु कदापकृतं मया कुलगुरोरपि चन्द्रमसः सखे ।
मयि निरस्तकृपः कथमन्यथा किरति जीवितहारि विषं करैः ॥२४॥

हे मित्र, भला कहो तो मैंने कब इस कुलगुरु चन्द्रमा का अपकार किया । अन्यथा क्यों यह निष्ठुर होकर किरणों के द्वारा प्राणान्तक विष गिराता ॥२४॥

इदमुदीरयतः पृथिवीपतेः कथमपि प्रतिपद्य पदं दृशोः ।
सकृपयेव तदा किल निद्रया क्षणमदर्शि नरेन्द्रसुता पुरः ॥२५॥

इस प्रकार प्रलाप करते हुए महाराज के नेत्रों में क्षण भर के लिए आई हुई निद्रा में नल को दमयन्ती दिखाई पड़ी ॥ २५ ॥

अथ नलः प्रतिबुध्य ससंभ्रमं तत इतो विनिवेश्य विलोचने ।
प्रियतमां सविधे न विलोकयन्निदमुवाच मनोभवकातरः ॥२६॥

एकाएक जग कर नल ने इधर उधर दृष्टि दौड़ाई किन्तु सन्निकट प्रियतमा को न देखकर, काम से कातर हो इस प्रकार बोले ॥ २६ ॥

मम कृते मृदुलाङ्गि दवीयसीं सरणिमाशु विलङ्घ्य यदागतम् ।
तदिदमाचरितं सुदति त्वया समुचितं प्रणयस्य गरीयसः ॥२७॥

हे कोमलाङ्गि, मेरे लिए तुम सुदूर मार्ग को लांघ कर जो शीघ्र यहाँ आयी, वह आचरण तुम्हारे अतिशय प्रेम के अनुकूल ही था ॥ २७ ॥

अपकृतं त्वमुना मम निर्भरं भुजयुगेन वृथा परिणाहिना ।
वलयतां समुपेत्य निजान्तरे त्वमसि यन्न चिराय निवेशिता ॥२८॥

इस समय मेरी निरर्थक विशाल भुजाओं से घिर कर तुमने अपने बीच मुझे अधिक देर तक नहीं रहने दिया, यही अपकार किया ॥ २८ ॥

स्मितविकस्वरया दशनश्रिया किमपि कन्दलिताधरपल्लवम् ।
पुनरुपैष्यति लोचनगोचरं मम कदा तव सुन्दरि तन्मुखम् ॥२९॥

हे सुन्दरी, मुस्कान से खिली हुई दन्तछटा से कन्दलित अधर किसलय से शोभित तुम्हारा मुख पुनः कब मुझे दृष्टिगोचर होगा ॥ २९ ॥

धृतकुरङ्गनदप्लुततूलिकं मम करं मकरीलिखनोन्मुखम् ।
तव कपोलतले पुलकोद्गमः सुमुखि नेष्यति मन्थरतां कदा ॥३०॥

हे सुमुखि, मृग के समान शीघ्र चलने वाला, मेरा हाथ तुम्हारे कपोल पर रचना विशेष अंकित करने की उत्सुकता से पुलकित हो कब मन्थरता नहीं प्राप्त करेगा ॥ ३० ॥

स्मरविमर्दविशृङ्खलबन्धनं लुलितमंसतटे शिथिलस्रजम् ।
तव कदा सुतनो कवरीभरं निगडयिष्यति पाणियुगं मम ॥३१॥

हे सुतनु, कामदेव के द्वारा विमर्दन से खुले हुए बन्धनवाले, कन्धेपर लोटते हुए एवं ढीली पड़ गयी है माला जिसकी ऐसे बालों को मेरे हाथ कब संवारेंगे ॥ ३० ॥

कृतकरोपजुषस्तव यावके चरणयोर्नमता शिरसादृते ।
विरचयन्परिकर्म सवेपथुर्मम कदा सुकृती भविता करः ॥३२॥

कृत्रिम मान वाली तुम्हारे चरण पर नत शिर से महावर की विशेष रचना करता हुआ मेरा लोपता हुआ हाथ कब सफल होगा ॥ ३२ ॥

नयनयुग्म जनुस्तव निष्फलं प्रणयिनीं न चिराय यदीक्षसे ।
त्वमसि मानस पुण्यतमं यतः शशिमुखी सततं त्वयि खेलति ॥३३॥

हे नेत्र तुम्हारा जन्म निरर्थक है, जो तुम प्रणयिनी दमयन्ती को देर तक न देख सके । हे हृदय तुम सबसे अधिक भाग्यशाली हो जिससे चन्द्रमुखी दमयन्ती तुममें निरन्तर खेल रही है ॥ ३३ ॥

तव कपोलतले विमलत्विषि प्रतिफलन्नविभावितमण्डलः ।
विलसदङ्कमृगस्तनुते शशी मृगमदद्रवपत्त्रविशेषताम् ॥३४॥

विमल कान्ति वाले तुम्हारे कपोल पर, खेलते हुए युगों से युक्त चन्द्रमा अपने सम्पूर्ण मण्डल से प्रतिविम्बित होकर कस्तूरी से पत्र रचना कर रहा है ॥ ३४ ॥

ध्रुवमसि त्वमिहैव तिरोहिता विरहपाण्डुवपुः शशिरोचिषा ।
इदमिदं तव नूपुरशिञ्जितं श्रवणयोः सविधे मम जृम्भते ॥३५॥

विरह से पीले वर्ण की हे दमयन्ती तुम चन्द्रमा की किरणों में निश्चय ही यहीं कहीं अन्तर्लीन हो गयी हो । (फिर भी) तुम्हारे नूपुरों की ध्वनि मेरे कानों में गूँज रही है ॥ ३५ ॥

क ते शिरीषाधिककोमलं वपुः क लङ्घनं तन्वि दवीयसः पथः ।
निषीद तन्मे क्षणमङ्कसीमनि क्रमं कराभ्यां विनयामि पादयोः ॥३६॥

हे तन्वि कहाँ तो शिरीष पुष्प से भी अधिक कोमल तुम्हारा शरीर और कहाँ इतना लम्बा रास्ता । अतः क्षण भर मेरी गोद में बैठो, मैं अपने हाथों से तुम्हारे पैरों की थकावट दूर करता हूँ ॥ ३६ ॥

अध्वक्लान्त्या मुकुलितमिदं द्वन्द्वमुन्मीलयाक्ष्णो-
भूयो भूयः कुवलयमयी दिश्यतां दिक्षु दृष्टिः ।
व्रीडानम्रं क्षणमपि नयोन्नम्रतामेतदास्यं
व्योम्नि स्मेरं भवतु कमलं पश्यतः शीतभानोः ॥३७॥

मार्ग की थकावट से मुँदे हुए अपने दोनों नेत्र खोलो और बार-बार कमलों को विकसित करने वाली दृष्टि से दिशाओं की ओर देखो । आकाश में खिले हुए कमल (अर्थात् कमलरूपी तुम्हारे मुख) को देखकर चन्द्रमा के उन्नत मुख को लज्जा से झुका दो ॥ ३७ ॥

कथं कथं मामपहाय भामिनि त्वरावती त्वं पुनरेव गच्छसि ।
निरागसि प्रेयसि केन हेतुना मयि क्षणं दक्षिणतां न रक्षसि ॥३८॥

हे भामिनि, क्यों मुझे छोड़कर शीघ्र चली जा रही हो । निरपराधी एवं प्रणयी मुझ पर किस कारण से तुम उदारता की रक्षा नहीं कर रही हो । (अर्थात् मुझ पर तुम क्यों उदारता नहीं दिखा रही हो) ॥ ३८ ॥

तथातिभूमिं भवतैव लम्भितं कथं सखे सौहृदमाशु विस्मृतम् ।
इतः प्रयान्ती मम जीवनेश्वरी प्रसाद्य यन्नैव निवर्त्यते त्वया ॥३९॥

हे मित्र, मैं आपके द्वारा ही इस अवस्था को प्राप्त हुआ । फिर तुम उस सौहार्द्र को इतनी जल्दी भूल क्यों गये । क्योंकि यहाँ से लौटकर जाती हुयी मेरी जीवनेश्वरी को लौटा कर लाया नहीं ॥ ३९ ॥

इतः प्रयाता पदवीं दवीयसीमदृश्यतां यास्यति जीवितेश्वरी ।
अनुव्रजन्नाशु निवर्तयामि तां सखे क्षणं पक्षयुगं प्रयच्छ मे ॥४०॥

इस प्रकार दूर देश को जाती हुई मेरी प्राणेश्वरी अदृश्य हो जायगी । अतः हे मित्र, कुछ देर के लिये अपने पंख मुझे देदो, जिससे मैं शीघ्र जाकर उसे लौटा सकूँ ॥ ४० ॥

आश्वासनार्थमिव मे कमले विधौ च
लक्ष्मीलवं तव मुखस्य विधिर्व्यधत्त ।
निद्राति पूर्वमनयोरपरस्तु जाग्रन्
मर्माणि हन्त मम कृन्तति किं करोमि ॥ ४१ ॥

मुझे आश्वासन देने के लिए ही शायद ब्रह्मा ने तुम्हारे (दमयन्ती) मुख का कुछ अंश कमल एवं चन्द्रमा में निविष्ट कर दिया। इनमें पहला जो कमल है वह इस समय सोरहा हैं, और जागता हुआ यह चन्द्रमा मेरा मर्म भेदन कर रहा है। आखिर क्या करता ॥ ४१ ॥

इति विलपितमस्य मेदिनीन्दोः स्मरविधुरीकृतचेतसो निशम्य।
प्रतिपदमसृतद्रवं विमुञ्चन्वचनमुवाच दशोचितं विहंगः ॥४२॥

काम से पीड़ित चित्तवाले पृथ्वीपति नल का विलाप सुनकर इस अवस्था के अनुकूल अमृत वर्षी बातें कहता हुआ पक्षी बोला ॥ ४२ ॥

कुवलयदृशि तस्यामेष भावानुबन्ध-
स्तव निषधनरेन्द्र प्रीतये कस्य न स्यात्।
भवति हि मधुलक्ष्म्याः साहचर्यं प्रपन्नः
समधिकमभिनन्द्यश्चन्दनाद्रेः समीरः ॥ ४३ ॥

हे निषधेन्द्र, कमलनयनी उस दमयन्ती में आपका ऐसा अनुराग देखकर किसे प्रसन्नता नहीं होगी। वसन्त श्री के साहचर्य से मलयाचल की हवा अधिक अभिनन्दनीय हो जाती है ॥ ४३ ॥

धैर्यं निधाय मनसि प्रतिपालयेदं क्ष्मावल्लभ क्षणमिव क्षणदावसानम्।
प्रत्यूष एव भवतोऽभिमतार्थसिद्धेर्द्वारं भविष्यति विसंघटितापिधानम्॥

हे पृथ्वीपति, मन में धैर्य धारण कर क्षण भर रात बीतने तक प्रतीक्षा कीजिए। प्रातः काल ही आपकी अर्थ सिद्धि का द्वार खुल जायगा ॥ ४४ ॥

इति वचनमुदीर्य मेदिनीन्द्रं विरमति तत्र विरिञ्चियानधुर्ये।
अनुगदितुमिवास्य वाचमुच्चैरुदचरदाशु निशान्तशङ्खनादः ॥४५॥

इति श्रीसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये
नलचरिते नलोन्मादो नाम चतुर्थः सर्गः।

पृथ्वीपति नल से इतना कहकर ब्रह्मा के विमान वाहक उस हंस के चुप हो जाने पर उसी की वाणी को मानो दुहराने के लिए तुरत ही जोरों से रात्रि का अवसान सूचक शङ्खनाद बज उठा ॥ ४५ ॥

श्री सांधिविग्रहिक महापात्र श्री कृष्णानन्द कृत सहृदयानन्द महाकाव्य
में नलोन्माद नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ।

पञ्चमः सर्गः

बहिर्विहाराय विशीर्णसक्थिनी निषेदुषी गर्भगृहोदरेषु ।
नभस्तुषारांशुमुखं दधाना क्रमेण रात्रिर्जरती बभूव ॥ १ ॥

बाहर घूमने में थकी जांघोंवाली, घर के भीतर बैठी हुई तुषार पूर्ण मुख रूपी आकाश को धारण किए हुए धीरे-धीरे रात वृद्धा हो गयी ॥ १ ॥

समुत्सुकः प्राप्तुमिवास्य लक्ष्मीं नलस्य पञ्चेषुशराकुलस्य ।
विगाहमानः ककुभं प्रतीचीं बभूव चन्द्रः सविशेषपाण्डुः ॥ २ ॥

काम से पीडित, नल की शोभा को प्राप्त करने के लिए उत्सुक चन्द्रमा पश्चिम दिशा में डूबता हुआ कुछ विशेष पीलेवर्ण का हो गया ॥ २ ॥

अनुद्यते भास्वति मन्दभासि विधौ किमप्याविरभूत्तमिस्रम् ।
आसाद्य रन्ध्रं महनीयधाम्नां मलीमसः संपदमातनोति ॥ ३ ॥

सूर्य के उदित न होने तक प्रकाश से क्षीण चन्द्रमा में कुछ अन्धकार उत्पन्न हुआ । (ठीक ही है) महान् तेजस्वियों में थोड़ा भी छिद्र पाकर कालिमा अपना विस्तार करती है ॥ ३ ॥

निद्रां विमुञ्चत्सु सरोरुहेषु सौरभ्यलोलैर्निवहैरलीनाम् ।
स्तोकावशेषोऽपि बभूव सान्द्रः पद्माकरेषु क्षणमन्धकारः ॥ ४ ॥

निद्रा का त्याग करते हुए कमलों में, सौरभ के लोभी भ्रमरों के द्वारा (घिर जाने के कारण) थोड़ा ही अवशिष्ट अन्धकार क्षण भर के लिए और गहन हो गया ॥ ४ ॥

संस्पृश्यमानैव बलाज्जहार वसूनि सर्वाण्यपि पश्चिमाशा ।
इन्दोः प्रकृत्या विमलस्य जातस्तथापि तस्यामनुरागबन्धः ॥ ५ ॥

पश्चिम दिशा ने स्पर्श करते ही समूची सम्पत्ति बलात् छीन लिया । फिर भी विमल चन्द्रमा का उसके प्रति स्वाभाविक अनुराग है ॥ ५ ॥

दिशं प्रतीचीं परिरभ्य चन्द्रे दरीगृहं गच्छति पश्चिमाद्रेः ।
बभार बालारुणरश्मिशोणं प्राची मुखं कोपकषायितेव ॥ ६ ॥

पश्चिम दिशा का आलिंगन कर अस्ताचल की कन्दरा में चन्द्रमा के चले जाने पर, क्रोध से कषायित के समान प्राची का मुख बाल रविकिरणों से लाल हो उठा ॥ ६ ॥

अर्धप्रबुद्धेषु सरोरुहेषु नातिप्रसुप्तेषु च कैरवेषु ।
करम्बितं सौरभमाददानः प्रालेयशीतः पवनश्चचार ॥ ७ ॥

अधजगे कमल एवं पूर्ण रूप से न बन्द हुए कुमुद दोनों की मिली हुई सुगन्ध लेती हुई हिम के समान शीतल हवा घूमती रही । ॥ ७ ॥

तथाविधां तस्य दशां नृपस्य निरीक्षितुं कातरतामुपेत्य ।
निद्राविरामध्वनिभिः खगानामाहूय चन्द्रं रजनी जगाम ॥ ८ ॥

राजा की वैसी दशा देखकर कातर हो निद्रावसान सूचक पक्षियों के कलरव के द्वारा चन्द्रमा को बुलाकर (साथ लेती हुई) रात चली गई ॥ ८ ॥

पूर्वापराद्र्योः शिखराग्रभाजौ द्वावेव माणिक्यमणिप्रकाशौ ।
परस्परस्य प्रतिबिम्बलक्ष्मीं क्षणं प्रपन्नाविव पुष्पवन्तौ ॥९॥

पूरब और पश्चिम के शिखर के अग्रभाग में स्थित माणिक्य और मणि के समान दोनों ने क्षण भर एक दूसरे के प्रतिबिम्ब की शोभा को धारण कर मानों और बढ़ाया ॥ ९ ॥

सुतैरिव स्वैरुडुभिः सहैव नभोङ्गणे यामवतीमतीत्य ।
विहर्तुकामश्चरमाद्रिवेलां शनैः प्रपेदे तुहिनांशुहंसः ॥१०॥

पुत्रवत् अपने तारों के साथ आकाश में रात बिताकर चन्द्ररूपी हंस अस्ताचल पर घूमने की इच्छा से धीरे-धीरे चला ॥ १० ॥

वितीर्णरागः कुसुमोत्करश्रीर्ज्योत्स्नाविपाण्डुश्छदनान्यपास्य ।
बभार वालारुणरश्मिदम्भान्नभस्तरुर्नूतनपल्लवानि ॥११॥

अवतरित रागवाले पुष्प समूह की शोभा ने, ज्योत्स्ना से पीले पत्तों को हटा कर वालारुण किरणों के माध्यम से वृक्ष एवं आकाश ने नवीन पल्लव धारण किया ॥ ११ ॥

उपैष्यतश्चण्डरुचेर्मयूखैर्निरस्यमानेऽपि घनान्धकारे ।
नलस्य भैमीविरहाग्निजन्मा जगाम वृद्धिं मदनान्धकारः ॥१२॥

सूर्य की किरणों के द्वारा गहन अन्धकार के दूर किये जाने पर भी, दमयन्ती के विरह से नल के हृदय में उत्पन्न काम रूपी अन्धकार और वृद्धि को ही प्राप्त हुआ ॥ १२ ॥

विकासलक्ष्मीः कमलं जगाम संकोचमुद्रा कुमुदं प्रपेदे ।
संपद्विपद्वापि निसर्गलोला कुत्रापि न स्थैर्यमुरीकरोति ॥१३॥

विकास की शोभा कमलों के पास गयी, कुमुद बन्द हो गये । सम्पत्ति या विपत्ति स्वभाव से ही चञ्चल हैं । कहीं भी स्थिरता धारण नहीं करतीं ॥१३॥

मधूनि पीत्वा क्षणदामिदानीमदक्षिणोऽयं नलिनीमुपैति ।
इतीव सेर्ष्या निजकोषमध्ये कुमुद्वती कापि बबन्ध भृङ्गम् ॥१४॥

रात भर मधु पीकर इस समय यह स्वार्थी कमलिनी के पास जा रहा है, इस ईर्ष्या से कुमुदिनी ने अपने कोष के भीतर किसी भंवरे को बन्द कर लिया ॥ १४ ॥

कथंचिदास्थाय स धैर्यबन्धं प्रत्यूषसंध्याविधिमन्वतिष्ठत् ।
महात्मनां हि व्यसनातिभारः क्रियाविलोपे प्रभुतां न याति ॥१५॥

किसी तरह धैर्य धारण कर राजा नल ने प्रातः कालीन सन्ध्यादि कृत्यों को सम्पन्न किया । महात्माओं की बड़ी विपत्ति भी उनके कार्यों को नष्ट करने में समर्थ नहीं होती ॥ १५ ॥

दशां तवेमां विनिवेद्य भैमीमाश्वासयिष्यामि निकामखिन्नाम् ।
श्रुतोऽपि खेदं शिथिलीकरोति प्रियानुरागः प्रमदाजनस्य ॥१६॥

अत्यन्त खिन्न दमयन्ती को, तुम्हारी ऐसी दशा का वर्णन कर आश्वासन दूंगा । प्रियतम के प्रेम को सुनकर भी कामिनियों का दुःख कम होता है । ॥१६॥

तदेष गच्छामि नराधिनाथ मुहूर्तमात्रेण पुरीं विदर्भाम् ।
विलोकयिष्यामि दिनैः कियद्भिर्भैमीसनाथस्य मुखाम्बुजं ते ॥१७॥

इसलिए हे नरेन्द्र, मैं क्षण भर में ही विदर्भ नगरी जा रहा हूँ कुछ ही दिनों में दमयन्ती के साथ तुम्हारा मुख देखूँगा ॥ १७ ॥

इति ब्रुवन्नेव नरेश्वरेण दोर्भ्यां परिष्वज्य खगो विमुक्तः ।
लिम्पन्नभः काञ्चनपत्त्रकान्त्या क्षिप्रं विदर्भाभिमुखो जगाम ॥१८॥

इस प्रकार कहता हुआ हंस, महाराज नल के द्वारा बाहों आलिङ्गित होकर छोड़ा गया । अपने स्वर्ण निर्मित पंख से आकाश को लीपता हुआ शीघ्र ही विदर्भ नगरी की ओर चला गया । ॥ १८ ॥

अत्रान्तरे दूतमुखेन भीमः स्वयंवरार्थं स्वतनूभवायाः ।
प्राप्ते विदर्भामवनीन्द्रवृन्दे तं प्रीतिपूर्वं नलमाजुहाव ॥१९॥

इसी बीच राजा भीम ने दूत से अपनी पुत्री के स्वयंवर के लिए विदर्भ देश में आये हुए राजाओं में नल को भी प्रेम पूर्वक बुलाया ॥ १९ ॥

ततः समासाद्य शुभं मुहूर्तं पुरोधसा संभृतमङ्गलश्रीः ।
निमित्तसंसूचितकार्यसिद्धिर्नलः प्रतस्थे नगरीं विदर्भाम् ॥२०॥

इसके बाद अच्छे मुहूर्त में पुरोहितों के द्वारा माङ्गलिक कार्य सम्पन्न किये जाने पर शुभ शगुनों से ही प्रगट हो रही है कार्य की सफलता जिसकी ऐसे नल ने विदर्भ की ओर प्रस्थान किया ॥ २० ॥

अथाश्वमूरेणुभरस्य रेजे श्वेतातपत्रं निषधेश्वरस्य ।
विलङ्घ्य मेघान्निजवंशकेतुं तं वीक्षितुं प्राप्त इवामृतांशुः ॥२१॥

निषधेश्वर का उज्ज्वल छत्र नीचे शोभित हुआ ऐसा लगता था मानों चन्द्रमा बादलों को पारकर अपने कुल भूषण (राजा नल) को देखने के लिए आया है ।। २१ ।।

अमुष्य हस्ताम्बुजमभ्युपेत्य भैमी ध्रुवं मे भविता सपत्नी ।
इतीव तस्य ध्वजिनीभरेण विश्वंभरा वेपथुमुद्बभार ।।२२।।

"इनके करकमलों को प्राप्त कर दमयन्ती निश्चय ही मेरी सपत्नी होगी" इसीलिए उनकी सेना से मानों पृथ्वी भी काँप उठी ।। २२ ।।

मद्वंशजातान्नृपतीनतीत्य गुणेन भैमीमुपलप्स्यतेऽसौ ।
इतीव लज्जाविधुरो विवस्वानन्तर्दधे तस्य चमूरजोभिः ।।२३।।

मेरे वंश में उत्पन्न राजाओं से बढ़कर यह अपने गुणों से दमयन्ती को प्राप्त करेगा । इससे लज्जित होकर सूर्य सेना से उड़ाई गई धूल में छिप गया ।।२३।।

मतङ्गजानां मदवारिसेकैः पराभवासादनशङ्कयेव ।
अमुष्य नासीरतटे तुरङ्गैः क्षुण्णं रजः खं सहसोत्पपात ।।२४।।

गजराजों के मदजल से पराजित होने की आशङ्का से मानों इनके घोड़ों द्वारा उड़ाई गई धूल सहसा आकाश में ऊपर उठ गई ।। २४ ।।

आभोगलक्ष्म्या पदवीष्वनित्यविसृत्वरैर्विभ्रममुष्य सेना ।
वर्षाम्बुपूरेण विभिन्नसेतुः स्रोतस्वती वृद्धिमतीव रेजे ।।२५।।

सुशोभित मार्ग पर निरन्तर बढ़ती हुई इनकी सेना वर्षा के जल से टूटे बाँध वाली नदी के समान अत्यधिक वृद्धि प्राप्त की ।। २५ ।।

तस्य प्रयातुः पृतनाभरेण नीरन्ध्रतां वर्त्म तथा जगाम ।
यथा रजोऽप्यस्य खुरावकीर्णं न चक्षमे व्योमविलङ्घनाय ।।२६।।

उनकी बढ़ती हुई सेना से मार्ग इतने सघन रूप से आछन्न हो गया कि इनके खुरों से उठती धूल भी आकाश में ऊपर उठने में समर्थ नहीं हुई ।। २६ ।।

दृशःश्रियं निन्दति न क्षितीन्दुर्नेत्रश्रियं वीक्ष्य विदर्भजायाः ।
इतीव संचिन्त्य ययुर्विदूरं मृग्योऽध्वकुञ्जेषु सुखं निषण्णाः ।।२७।।

पृथ्वीपति राजा नल, दमयन्ती के नेत्रों की शोभा देख कर निन्दा न करने लगें, इस प्रकार विचार कर मार्ग के कुञ्जों में आराम से बैठी हुई मृगी दूर चली गई ।। २७ ।।

उपायनान्यस्य तथोपनिन्ये पदे पदे जानपदो जनौघः ।
कृतोपयोगान्यपि तानि सैन्यैर्यथा न संख्याविषयत्वमीयुः ।।२८।।

पग-पग पर नागरिकों द्वारा इतने उपहार अर्पित किये गये कि सेना द्वारा उनका उपयोग किये जाने पर भी उनकी गिनती सम्भव न हो सकी ।। २८ ।।

मार्गेष्वखिन्नोऽपि चमूचराणां विश्रामहेतोर्वसतीः स भेजे ।
तथाविधानां चरितं न जातु श्रमातिरेकाय समाश्रितानाम् ॥२९॥

मार्ग में थके न होने पर भी सेना के विश्राम के लिए उन्होंने निवास का आश्रय लिया। वैसे महापुरुष अपने आश्रितों से अधिक श्रम कराना नहीं चाहते ॥ २९ ॥

जवादविज्ञातविलङ्घिताध्वा संचिन्तयन्नेव गुणान्प्रियायाः ।
विदर्भराजस्य पुरोपकण्ठे बबन्ध सेनाशिविरं नरेन्द्रः ॥३०॥

वेग के कारण तय किए गए मार्ग की दूरी न जानी जा सकी। राजा नल ने प्रिया के गुणों का स्मरण करते हुए विदर्भ राजा की नगरी के समीप ही पड़ाव डाला ॥ ३० ॥

अत्रान्तरे क्षोणितलादुपेत्य कलिप्रियः कामचरो महर्षिः ।
निवेदयामास विदर्भजायाः स्वयंवरस्यावसरं सुरेभ्यः ॥३१॥

इसी बीच पृथ्वी लोक से लौटकर आए हुए कलहप्रिय विचरणशील महर्षि (नारद) ने दमयन्ती के होनेवाले स्वयंवर की सूचना देवताओं को दी ॥ ३१ ॥

प्रागेव तस्यामनुबद्धभावाः पुरंदराद्याः ककुभामधीशाः ।
पुरःसरीकृत्य मुनिं तमेव प्रतस्थिरे तां नगरीं विदर्भाम् ॥३२॥

इन्द्रादि देवता एवं दिक्पाल जिनका चित्त पहले से ही दमयन्ती में अनुबद्ध था, मुनि (नारद) को आगे कर उस विदर्भ नगरी की ओर चल पड़े ॥ ३२ ॥

लावण्यलक्ष्मीजितपञ्चबाणं विलोक्य ते वर्त्मनि वैरसेनिम् ।
विदर्भजायां शिथिलीकृताशाः परस्परं मन्त्रमिमं व्यतेनुः ॥३३॥

अपने सौन्दर्य की शोभा से कामदेव को जीतनेवाले वीरसेन के पुत्र नल को मार्ग में देखकर, दमयन्ती को प्राप्त करने की क्षीण आशा वाले वे आपस में इस प्रकार विचार विनिमय करने लगे ॥ ३३ ॥

उज्जृम्भते चेतसि तावदेव यूनां मदः कान्तिविशेषजन्मा ।
न यावदक्ष्णोर्विषयत्वमेति विश्वंभरालंकृतिरेष वीरः ॥३४॥

यौवन का मद चित्त में तभी तक व्याप्त रहता है जब तक कान्ति विशेष विशेष से उत्पन्न वसुन्धरा का शृंगार यह वीर दृष्टिगत नहीं होता ॥ ३४ ॥

अस्माभिरेतैरविमृश्य नूनमङ्गीकृतः साहसिकत्वदोषः ।
मोहादनादृत्य नरेन्द्रमेनं भैमीविलोलं यदकारि चेतः ॥३५॥

इसका बिना विचार किये ही हमलोगों ने निश्चय ही यह दुस्साहस किया कि मोह में पड़कर इस नरेन्द्र की उपेक्षा कर हमलोगों ने अपने मन को दमयन्ती के लिए चञ्चल बना डाला ॥ ३५ ॥

अभ्यर्थनाभङ्गपराभवेन नवावतारेण विलज्जमानान् ।
प्रतिप्रयातानवाप्य भैमीं वक्ष्यन्ति किं किं सुरसुभ्रुवो नः ॥३६॥

नवोदित राजा नल से प्रार्थना भङ्ग के भय से लज्जित होते हुए (हम) यदि दमयन्ती को विना प्राप्त किये ही लौटेंगे तो सुरसुन्दरियाँ हमें क्या नहीं कहेंगी ॥ ३६ ॥

अस्माकमप्यत्र यदृच्छयैव निपत्य दृष्टिर्यदि नान्यमेति ।
गुणातिरेकोऽभिनिवेशवत्यास्तदा किमुच्येत विदर्भजायाः ॥३७॥

जब हमलोगों की दृष्टि भी अनायास इस पर पड़ जाने से दूसरे पर नहीं जाती तब आग्रहवती दमयन्ती के गुणाधिक्य के विषय में क्या कहा जाय ॥३७॥

अस्माभिरभ्यर्थ्य तदेष एव दमस्वसुर्दूतपदे विधेयः ।
अस्मान्स्तुवन्नेनमपास्य नूनमन्यो हि लज्जाजडतामुपेयात् ॥३८॥

हमलोग प्रार्थना कर इसे ही दमयन्ती के पास दूत बनाकर भेजें। इन्हें छोड़ हमलोगों की प्रशंसा करनेवाला कोई दूसरा व्यक्ति निश्चय ही लज्जा से जड़ीभूत हो जायगा ॥ ३८ ॥

इत्थं विनिश्चित्य दिवौकसस्ते पृथक्पृथग्व्यञ्जितरूपचिह्नाः ।
आशीर्भिरानन्द्य मुहुः प्रणम्य बद्धाञ्जलिं नैषधमित्यवोचन् ॥३९॥

इस प्रकार निश्चित कर उन देवताओं ने अपना अलग-अलग रूप धारण किया। आशीर्वचनों से आनन्दित कर बार-बार हाथ जोड़कर प्रणाम कर (उन लोगों ने) नल से इस प्रकार कहा ॥ ३९ ॥

तथा प्रसन्नैरपि नांशुपूरैर्मालिन्यमिन्दुर्जगतां क्षिणोति ।
कुलावतंसत्वमुपेयुषस्ते यथा विशुद्धैर्यशसां वितानैः ॥४०॥

चन्द्रमा अपनी शुभ्र किरणों से विश्व का अन्धकार उतना दूर नहीं कर पाता, जितना कुलभूषण तुम्हारे निर्मल यश-समूहों से दूर होता है ॥ ४० ॥

आसाद्य पूर्वानपि पार्थिवांस्ते न कश्चिदर्थी विमुखः प्रयातः ।
यशस्त्वसामान्यमिदं त्वदीयं यदर्थिभावं वयमभ्युपेताः ॥४१॥

तुम्हारे पूर्वजों के द्वारा (आजतक) कोई याचक लौटाया नहीं गया। तुम्हारे साधारण यश के कारण हम लोग भी तुम्हारे पास याचक बनकर आये हैं ॥ ४१ ॥

कुलानुसारी सुरकार्यसिद्धौ भवादृशानां भवति प्रयत्नः ।
तेनाद्य कुत्रापि समीहितेऽर्थे नियोक्तुमिच्छन्ति दिवौकसस्त्वाम् ॥४२॥

कुलपरम्परा के अनुसार देवकार्य की सिद्धि के लिए आप जैसे लोगों का प्रयत्न होता रहा है। आज भी किसी इच्छित वस्तु की सिद्धि के लिए देवता तुम्हें ही कहीं नियुक्त करना चाहते हैं ॥ ४२ ॥

भीमात्मजायाः सविधे तथा त्वमस्मानुपश्लोकय लोकवीर ।
अलंकरोति त्रिदिवं यथेयमेकस्य नः कस्यचिदेत्य हस्तम् ॥४३॥

हे विश्व विजयी, तुम दमयन्ती के पास हमलोगों की ऐसी प्रशंसा करो जिससे वह हमलोगों में से किसी एक का हाथ पकड़कर स्वर्ग को अलंकृत करे ॥ ४३ ॥

तदर्थमर्थी विदितोऽसि वत्स विस्रम्भभूमिस्तदपि त्वमेव ।
निजार्थसिद्धिष्वपि निर्व्यपेक्षाः श्रेयः परेषां घटयन्ति सन्तः ॥४४॥

हे वत्स, तुम भी उसी वस्तु के याचक हो यह ज्ञात है। फिर भी तुम्हीं विश्वास के पात्र हो। सत्पुरुष स्वार्थसिद्धि में अभिलाषारहित होकर दूसरों का कल्याण करते हैं ॥ ४४ ॥

प्रतिश्रुतं चेद्भवता तदेवमसंशयं सेत्स्यति वाञ्छितं नः ।
संपाद्यमानं हि महानुभावैः स्पृशन्ति न प्रार्थितमन्तरायाः ॥४५॥

यदि आपने स्वीकार कर लिया तो हम लोगों की अभिलाषा अवश्य ही पूर्ण होगी। महानुभावों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हुए प्रार्थित कार्य का विघ्न स्पर्श नहीं करते ॥ ४५ ॥

विधेर्वशात्कार्यविपर्ययेऽपि न तेऽपराधः परिशङ्कनीयः ।
प्रभोर्नियोगापनये नियोक्तुराशास्यसिद्धेः प्रतिभूर्न दूतः ॥४६॥

दुर्भाग्य से यदि कार्य विफल भी हो तो उसमें तुम्हारा अपराध नहीं है। प्रभु के आदिष्ट कार्य की सिद्धि न होने पर दूत उसके लिये दोषी नहीं है ॥४६॥

नलः सखेदोऽपि गिरं सुराणां सत्त्वातिरेकाद्विदधे तथैव ।
अमुष्य यत्नेन विदर्भजा तु सा निश्चयाद्धारयितुं न शेके ॥४७॥

खिन्न नल ने उदारता के कारण देवताओं के कथनानुसार ही कार्य किया। किन्तु इनका प्रयत्न भी दमयन्ती को अपने निश्चय से नहीं डिगा सका ॥ ४७ ॥

सुरास्तु तां निश्चितचित्तवृत्तिं विशुद्धवृत्तं निषधेश्वरं च ।
वरैरुभौ प्रत्यभिनन्द्य भूयो दिवं ययुर्म्लानमुखप्रकाशाः ॥४८॥

देवता, दृढ़ सङ्कल्पवाली दमयन्ती एवं विशुद्ध चरित्र नल को वरदान से अभिनन्दित कर म्लान मुख हो स्वर्ग चले गये ॥ ४८ ॥

अथात्मजां नैषधसक्तचित्तां निशम्य शश्वन्मुदितोऽपि भीमः ।
दाक्षिण्यमात्रेण नरेश्वराणां स्वयंवरं वर्तयितुं शशास ॥४९॥

अपनी पुत्री दमयन्ती को नल में आसक्त जानकर प्रमुदित भीम ने भी केवल उदारतावश ही राजाओं का स्वयंवर रचा ॥ ४९ ॥

अथो नियुक्तैः प्रभुणा समन्तादलंकृता सा नगरी विदर्भा।
मरुद्विलोलैर्निवहैर्ध्वजानां स्वयंवरायाह्वयतीव राज्ञः ॥५०॥

राजा के द्वारा नियुक्त जनों से वह विदर्भ नगरी पूरी तरह सजायी गयी। हवा से हिलते हुए ध्वज समूह मानों राजाओं को स्वयंवर के लिए बुला रहे थे ॥ ५० ॥

अथानुकूलेऽहनि तत्र मञ्चानास्थाय तस्थुः शतशः क्षितीशाः।
अनुद्रुता बन्धुवधूजनेन भैमी च तं देशमुपाजगाम ॥५१॥

किसी अनुकूल दिन में सैकड़ों राजा मञ्च पर विराजमान हुए। बन्धु-बान्धवों से घिरी वह दमयन्ती भी वहां उपस्थित हुयी ॥ ५१ ॥

अभ्याशभाजोऽपि नृपानपास्य सा नैषधे केवलमुत्सुकासीत्।
ग्रहेषु सत्स्वप्यपरेषु नूनं विलोकते चन्द्रमसं चकोरी ॥५२॥

अन्य राजाओं को छोड़कर वह केवल नल के लिए ही उत्सुक थी। जिस प्रकार अन्य ग्रहों के रहने पर भी चकोरी केवल चन्द्रमा की ओर ही देखती है ॥ ५२ ॥

तामन्तिकाद् दूरतरं प्रयान्तीं न केवलं दृष्टिरनुप्रयाता।
श्वासोष्मणा म्लानमुखप्रभाणां नैसर्गिकी श्रीरपि पार्थिवानाम् ॥५३॥

समीप से दूर जाती हुई उसके पीछे केवल (राजाओं की) दृष्टि ही नहीं गयी, अपितु दीर्घ निश्वास की गर्मी से म्लानमुखवाले राजाओं की स्वाभाविक शोभा भी चली गयी ॥ ५३ ॥

नेदीयसो यान्नृपतीनमुञ्चद्वसन्तलक्ष्मीरिव सा कुमारी।
तेषां तरूणामिव कान्तिरुच्चैरन्तर्निदाघेन जगाम शोषम् ॥ ५४ ॥

(पति के रूप में वरण न कर) निकटस्थ जिन राजाओं को उस राजकुमारी ने वसन्तश्री के समान छोड़ दिया, उन (राजाओं) की कान्ति ग्रीष्मकाल में वृक्ष की तरह बिल्कुल सूख गयी ॥ ५४ ॥

आरोप्यमाणा रभसातिरेकाद् गुणेन कर्णान्तिकमागतेन।
इषुः शरव्यं सुभटोज्झितेव जगाम दृष्टिर्नलमेव तस्याः ॥ ५५ ॥

वीर द्वारा, पूरी शक्ति से कानों तक खींची हुई डोरी से निशाने पर मारे गये बाण के समान उस दमयन्ती की दृष्टि नल पर ही गई ॥ ५५ ॥

धात्री कापि विदर्भराजदुहितुर्भ्रूलीलया व्यापृता
पौष्पं दाम विजृम्भमाणपुलके कण्ठे नलस्यार्पयत्।
अन्येषां तु महीभृतां प्रति मुहुः श्वासोत्तरं ताम्यतां
तापोत्सेकमधत्त चेतसि शरश्रेणी मनोजन्मनः ॥ ५६ ॥

दमयन्ती की भ्रूभङ्गिमा से इङ्गित किसी परिचारिका ने आनन्द से पुलकित नल के कण्ठ में फूलों की माला डाल दी। बार-बार निश्वास लेते हुए खिन्न राजाओं के चित्त में कामदेव के बाण अधिक ताप बढ़ाने लगे ॥ ५६ ॥

चूडाग्रे पुरविद्विषः समुचिते विन्यस्य लेखां विधो-
लब्धां कीर्तिमवृद्ध तां खलु विधिर्भैमीं नलायार्पयन् ।
एतस्याः समवाप्तये प्रणयितां संपाद्य भूमीभुजा-
मन्येषां विषमायुधस्त्वसदृशारम्भापवादं ययौ ॥ ५७ ॥

शिव के मस्तक पर चन्द्रमा की रेखा स्थापित कर अर्जित कीर्त्ति को ब्रह्मा ने, नल को दमयन्ती अर्पित कर निश्चय ही बढ़ाया। इस (दमयन्ती) की प्राप्ति के लिए अन्य राजाओं को प्रणयी बनाकर कामदेव असमानता की निन्दा को प्राप्त हुआ ॥ ५७ ॥

पौराणामिति वचनं निशम्य हृष्यन्प्रासादं निषधपतिः शनैर्जगाम ।
वैदर्भ्याः परिणयमङ्गलाय भीमः संभारं रचयितुमुत्सुको बभूव ॥५८॥

इति श्रीसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये
नलचरिते नलसाम्राज्यलाभो नाम पञ्चमः सर्गः ।

पुरवासियों के, इस प्रकार के वचनों को सुनकर राजा नल प्रसन्न होकर धीरे-धीरे महल में गये। राजा भीम भी दमयन्ती के शुभ परिणय के लिए सामग्री इकट्ठा करने के लिए उत्सुक हो उठे ॥ ५८ ॥

श्री सांधिविग्रहिक महापात्र श्री कृष्णानन्द विरचित सहृदयानन्द
महाकाव्य के नलचरित में नल-साम्राज्य-लाभ नामक
पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ।

षष्ठः सर्गः

अथावरोधेषु विदर्भभूपतेर्वृतं कुमार्या निषधेश्वरं पतिम् ।
निवेदयन्त्यः परिवारसुभ्रुवः समीहितादप्यधिकं प्रपेदिरे ॥ १ ॥

"विदर्भराज की पुत्री दमयन्ती ने निषधराज नल को अपना पति चुना" इसे अन्तःपुर में सूचित करती हुई परिवार की सुन्दरियां अत्यन्त प्रसन्न हुईं ॥ १ ॥

नलेन संबन्धमुपाश्रितं नृपः कुलं स मेने सविशेषमुज्ज्वलम् ।
महार्णवं क्षीरमयं घनात्यये करेण संस्पृष्टमिवामृतद्युतेः ॥ २ ॥

नल से सम्बन्ध स्थापित करते हुए राजा ने कुल को, मेघ के हटने पर (शरद ऋतु में) चन्द्र-किरणों से स्पृष्ट क्षीरसागर की तरह, अत्यधिक उज्ज्वल माना ॥२॥

प्रकामगुर्वीमपि संपदं नृपस्तदा स मेने नितरामणीयसीम् ।
नवं हि जामातरमर्चयिष्यतां समृद्धिभाजामपि शङ्कते मनः ॥ ३ ॥

बृहत् परिमाण में सम्पत्ति रहने पर भी राजा ने उसे अत्यधिक अल्प माना। नवीन जामाता को भेंट देने में बड़े लोगों का मन भी शङ्कित रहता है ॥ ३ ॥

भविष्यतीयं महिषी महीपतेर्नलस्य लोकत्रयविश्रुतौजसः ।
विचिन्तयन्नित्थमपश्यदात्मजां स गौरवस्नेहकरम्बितं तदा ॥ ४ ॥

"यह राजा नल की, जिसकी शक्ति तीनों लोकों में प्रसिद्ध है, महारानी बनेगी" इस प्रकार सोचते हुए राजा ने दमयन्ती को गौरव एवं प्रेमपूर्ण नेत्रों से देखा ॥ ४ ॥

पुरोहितेनाथ समं द्विजातिभिर्विवाहलग्ने विनिवेदिते शुभे ।
दमस्वसुर्माङ्गलिकेषु कर्मसु न्ययोजयद्बन्धुवधूजनं नृपः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणों एवं पुरोहित से शुभ विवाह के मुहूर्त बनाये जाने पर राजा ने दमयन्ती के माङ्गलिक कृत्यों में बन्धु-बान्धवों को नियुक्त किया ॥ ५ ॥

गृहे गृहे न्यस्तनवीनतोरणा पदे पदेऽलंकृतराजपद्धतिः ।
मुहुर्मुहुर्मूर्च्छिततूर्यनिःस्वना श्रियं ययौ कामपि सा पुरी तदा ॥ ६ ॥

घर घर में नवीन बन्दनवार सजाये गये। पद-पद पर राजमार्ग सजाया गया, बार-बार बाजे जोरों से बज रहे थे, इस प्रकार उस नगरी ने नवीन शोभा धारण की ॥ ६ ॥

ततः कुलाचारविदा पुरोधसा कृताधिवासां तनयां महीपतेः ।
विधाय संगीतकमङ्गलं स्त्रियः समेत्य तामस्नपयन्यथाविधि ॥ ७ ॥

कुलाचार जाननेवाले पुरोहित के द्वारा प्रतिष्ठित की गई महाराज की कन्या दमयन्ती को स्त्रियों ने माङ्गलिक गीतादि गाकर विधिपूर्वक स्नान कराया ॥ ७ ॥

निसर्गतः काञ्चनयष्टिसच्छविर्वितन्वती स्नानविधिं नृपात्मजा ।
नवेन काश्मीररसेन रञ्जिता न्यवेदि सौरभ्यभरैर्न तु श्रिया ॥ ८ ॥

स्नान करती हुई दमयन्ती ने अपनी स्वाभाविक स्वर्णयष्टि की छवि को नव केसर के रस से रञ्जित कर, सुगन्ध द्वारा नहीं अपितु सौन्दर्य से सूचित किया ॥ ८ ॥

ततोऽङ्गनाः क्षौमसमावृतैः करैर्यथायथाम्भःपृषतान्न्यसार्जयन् ।
तथातथास्याः परिणाहशालिनी बभूव लावण्यमयी तरङ्गिणी ॥ ९ ॥

जैसे-जैसे स्त्रियों ने चद्दर से ढके हुए हाथ से जल की बूंदें गिराईं, वैसे ही उस दमयन्ती का लावण्य और अधिक फैल गया ॥ ९ ॥

विडम्बयन्ती कनकं तनुश्रिया स्मितेन मुक्तामधरेण विद्रुमम् ।
कराङ्गुलीभिः कुरुविन्दमञ्जरीं बभूव भूपान्तरनिःस्पृहेव सा ॥१०॥

अपने शरीर के सौन्दर्य से स्वर्ण को, मुस्कान से मोती एवं अधर से मूंगे को तथा हाथों की अङ्गुलियों से लाल रत्न को अथवा (मोथे की मञ्जरी को) तिरस्कृत करती हुई, वह (दमयन्ती) अन्य राजाओं की ओर से निस्पृह हो गई ॥ १० ॥

अनन्तरं स्नानविधेर्नृपात्मजा पिनद्धबालार्कनिभांशुका बभौ ।
घनाम्बुवर्षेण कृताभिषेचना लतेव नीरन्ध्रमुदीर्णपल्लवा ॥११॥

दमयन्ती ने स्नान विधि के बाद बालरवि के समान लालरङ्ग का वस्त्र धारण किया । वर्षा के जल से अभिषिक्त सघन पल्लवों से युक्त लता के समान शोभित हुई ॥ ११ ॥

रराज कालागुरुधूपलिप्सया विधुन्वती कुन्तलभारमायतम् ।
हिरण्मयी मन्मथकेतुयष्टिका मरुच्चलन्नीलनिचोलिकेव सा ॥१२॥

अपने लम्बे बालों को कालागुरु का धूप देने के लिए फैलाती हुई वह स्वर्णमयी कामदेव की पताका के समान दमयन्ती, हवा से हिलती हुई श्याम-वर्ण के बुरका के समान शोभित हो रही थी ॥ १२ ॥

विनिर्मिमाणा करयोर्युगेन सा मनोभिरामां कवरीं कृशोदरी ।
करम्ब्यमाणां करजांशुभिर्निजैरयत्नमेनां विदधे सगर्भकाम् ॥१३॥

कृशोदरी ने अपने हाथों से मनोरम चोटी को गूंथती हुई अपने नख की कान्ति से मिश्रित उसे बिना यत्न के ही सहोदर बना डाला ॥ १३ ॥

स्वभावतः कोकनदानुकारिणौ प्रसाधयन्त्यश्चरणौ दमस्वसुः।
अलक्तकं वीक्ष्य जितं तयोः श्रिया क्षणं प्रपन्नाः करणीयमुग्धताम् ॥१४॥

दमयन्ती के लाल कमल के समान स्वाभाविक चरणों को सजाती हुई सखियां, यह देख कर कि आलक्तक की शोभा को चरणों के सौन्दर्य ने जीत लिया, क्षण भर किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी हो गईं ॥ १४ ॥

चकार कालाञ्जनलेखयाञ्चिते विलोचने यत्पृथिवीन्द्रनन्दिनी।
ततस्तयोः श्रीरवतंसताजुषोर्निरास नीलाम्बुजयोस्तुलाकथाम् ॥१५॥

दमयन्ती ने जब आखों में काजल लगाया तो उन नेत्रों को शोभा ने, कानों में लगाये गये नीलकमल की शोभा को तिरस्कृत कर दिया ॥ १५ ॥

चकार कस्तूरिकया सकौतुकं वधूमुखे यत्तिलकं प्रसाधिका।
जिगाय तत्कान्तिविशेषसंपदा मधुव्रतं निश्चलमम्बुजे स्थितम् ॥१६॥

प्रसाधिका ने जब दमयन्ती के मुख पर कस्तूरी का तिलक लगाया तो उसकी शोभा ने कमल पर निश्चल बैठे हुए भंवरे (की शोभा) को भी जीत लिया ॥ १६ ॥

ततः कुमारी मुकुरेऽनुबिम्बितं विलोकयामास सकृन्निजं मुखम्।
मुहुर्मुहुः प्रैक्षत नैषधं तु सा निवेशितं चेतसि मन्मथेषुभिः ॥१७॥

उस दमयन्ती ने दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने मुख को देखा तो उसे कामबाण द्वारा चित्त में प्रविष्ट नल ही बार-बार दिखाई पड़े ॥ १७ ॥

वधूः सदूर्वाङ्कुरमार्द्रकुङ्कुमं करेण यत्कौतुकसूत्रमग्रहीत्।
हिरण्मयैः स्वैः किरणैर्विराजितं तुलां दधे काञ्चनकङ्कणेन तत् ॥१८॥

उस वधू ने जब हाथ से कुङ्कुम से भींगे हुए दुर्वादल को धारण किया तो अपने स्वर्णिम तेज के कारण वह स्वर्ण कङ्गन की समता करने लगा ॥ १८ ॥

वधूर्विवाहोचितवेषपेशलं प्रसाधिता कौतुकसूत्रधारिणी।
अमन्यतान्तःपुरसुन्दरीजनैरुपस्थिता मङ्गलदेवतेव सा ॥१९॥

मङ्गलसूत्र धारण किये हुई दमयन्ती जब वैवाहिक वस्त्राभूषण से सुशोभित की गई तो अन्तःपुर की सुन्दरियों ने उसे समुपस्थित मङ्गल देवता के समान समझा ॥ १९ ॥

अथ प्रयुक्तं निपुणैः प्रसाधकैर्नलोऽपि यं वेषविशेषमग्रहीत्।
अवर्धयत्तस्य स कान्तिसंपदं तुषारभानोः शरदेव संगमः ॥२०॥

निपुण प्रसाधकों द्वारा सुसज्जित नल ने भी जिस विशेष वस्त्रालङ्कार को धारण किया, उससे वे भी शरद्कालीन चन्द्रमा के समान विशेष सुशोभित हुए ॥ २० ॥

निसर्गतो यस्तनुरूपसंपदा बभूव लोकस्य विलोचनोत्सवः।
दमस्वसुः पाणिपरिग्रहोचिता प्रसाधनश्रीः किमिवास्य वर्ण्यते ॥२१॥

जिसका स्वाभाविक शरीर सौन्दर्य भी लोगों को प्रिय था उस दमयन्ती के पाणिग्रहणोचित सौन्दर्य का क्या वर्णन किया जाय ? ॥ २१ ॥

ततो विदर्भाधिपतेः प्रशासनादमात्यमुख्याः सदसि स्थितं नलम्।
विभो प्रभुर्नः सहितः सुहृज्जनैः प्रतीक्षते त्वामिति संन्यवेदयन् ॥२२॥

विदर्भ नरेश के राज्य के मन्त्री आदि प्रमुख व्यक्तियों ने सभास्थित नल से निवेदन किया कि इष्ट-मित्रों के साथ हमारे स्वामी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ २२ ॥

अथायमासन्नसमीहितोदयः पुरोधसा संभृतमङ्गलक्रियः।
समन्ततो बन्धुजनैः समावृतः प्रभुर्विदर्भाधिपतेर्गृहं ययौ ॥२३॥

जिसके अभीष्ट की प्राप्ति सन्निकट है ऐसे महाराज नल पुरोहितों के द्वारा मङ्गलाचार सम्पन्न किये जाने के बाद बन्धुजनों के साथ विदर्भ नरेश के भवन की ओर चले ॥ २३ ॥

सलीलमारुह्य मतङ्गजं नलः स्वदेहलीमेव न यावदत्यगात्।
अमुष्य तावत्पृतनाग्रसारणी विदर्भराजस्य गृहानपूजयत् ॥२४॥

गजराज पर आरूढ़ होकर जबतक नल अपनी देहली तक भी नहीं पहुँच पाये तबतक उनकी अग्रगामिनी सेना विदर्भराज के भवन तक पहुँच गयी ॥ २४ ॥

विलोकमानाः पथि नैषधं जनाः परस्परं पीडितदेहयष्टयः।
अशक्नुवन्तश्चलितुं पदात्पदं हृदा च दृग्भ्यां च परं तमन्वयुः ॥२५॥

(अत्यधिक भीड़ के कारण) परस्पर देह रगड़ते हुए इकट्ठे लोग जो एक डेग भी आगे चलने में असमर्थ थे केवल हृदय एवं आखों से ही उनके पीछे चल सके। (भीड़ के कारण लोग तो उनके पीछे न चल सके, किन्तु हृदय एवं आँखें पीछे तो गईं ही) ॥ २५ ॥

स्तनैर्नितम्बैश्च नितान्तपीवरैर्निवार्यमाणेषु समीपवर्तिषु।
न मध्यभागे तनुमध्यमाः परं निपीडिताः पौरजनावृते पथि ॥२६॥

लोगों के द्वारा रोके जाने पर भी नागरिकों से खचाखच भरे हुए राजमार्ग पर पतली कमरवाली नायिकाएं अपने भारी स्तनों और नितम्बों से पीड़ित हुईं। केवल मध्यभाग की कृषता के कारण वह बचा रहा ॥ २६ ॥

नरेश्वरे गच्छति राजवर्त्मना वपुःश्रियावर्जितविश्वलोचने।
इति व्यचेष्टन्त मनोभवाज्ञया निरस्तनारीसुलभत्रपाः स्त्रियः ॥२७॥

अपने शरीर सौन्दर्य से सबकी आँखों को तृप्त कर राजमार्ग पर नल के चलने पर नारी सुलभ लज्जा को कामदेव का आज्ञा से दूर कर स्त्रियों ने इस प्रकार चेष्टायें कीं ॥ २७ ॥.

पथि प्रयान्तं निषधेन्द्रमीक्षितुं समुत्सुका दृष्टिमधःप्रसारिणीम् ।
तिरोदधत्तुङ्गमुरोजयोर्युगं निनिन्द काचिद्वलभीगता वधूः ॥२८॥

राजमार्ग पर चलते हुए राजा नल को देखने के लिए अपनी आँखों को नीचे की ओर किये झरोखे पर बैठी हुई किसी स्त्री ने नीचे की ओर लटके अपने उन्नत स्तनों की निन्दा की ॥ २८ ॥

सह स्थिता जीवितबन्धुना परा निरीक्षितुं निर्भरमक्षमा नलम् ।
तदीयदेहप्रतिमाङ्कितं निजं मुहुर्मुहुः प्रैक्षत रत्नकङ्कणम् ॥२९॥

अपने पति के साथ बैठी कोई अन्य नायिका नल को पूर्णरूप से देखने में असमर्थ होकर उनके शरीर से प्रतिबिम्बित अपने कङ्गन को ही बार-बार देखती रही ॥ २९ ॥

नलस्य कान्त्या हृतमानसापरा वधूर्विधित्सुर्मकरीं कपोलयोः ।
तमेव शश्वल्लिखती ससंभ्रमं सखीजनैः पार्श्वगतैर्न्यषिध्यत ॥३०॥

नल की कान्ति से अपहृत चित्तवाली कोई नायिका अपने गालों पर चित्र-रचना की इच्छा से भ्रमवश बार-बार नल का ही चित्र बना रही थी । अतः समीपवर्ती सखियों ने उसे ऐसा करने से मना किया ॥ ३० ॥

कयापि मुग्धाङ्गनया नरेश्वरे प्रयाति वातायनसंमुखात्पथः ।
अपाङ्गयोरुत्पलपत्त्रदीर्घयोरशिक्षि तिर्यक्चलनेषु चातुरी ॥३१॥

राजा नल राजमार्ग पर जब खिड़की के सामने से गुजरे तो किसी मुग्धाङ्गना ने कमलपत्र के समान दीर्घ अपने नेत्रों को तिरछी चितवन की चतुरता सिखाई ॥ ३१ ॥

मृगेक्षणा काचन भावनावशाद्विलोकयन्ती निषधेश्वरं पुरः ।
गतेऽपि तस्मिन्परिलङ्घ्य दृक्पथं चिराय नैव स्वगृहं न्यवर्तत ॥३२॥

राजा नल को सामने देखती हुई कोई (नायिका) मृगनयनी, उनके आगे बढ़ जाने पर भी स्नेह के कारण अपनी दृष्टि को उस रास्ते से हटा कर घर की ओर नहीं की ॥ ३२ ॥

वधूर्दृशौ रञ्जयितुं समुत्सुका निवेश्य कालाञ्जनमङ्गुलीमुखे ।
त्वरावशान्तः परिलिप्य गण्डयोर्बहिर्गता कापि जनानहासयत् ॥३३॥

कोई वधू अंगुली में काजल लेकर आँखों में लगाने जा रही थी, किन्तु जल्दी में वह (आँखों की जगह) गालों पर ही (भूल से) लगा, बाहर निकली । इस पर लोग हँस पड़े ॥ ३३ ॥

ततः सुधालेपजितं निवेशनं विवेश भीमस्य नलः सुहृद्वृतः।
ग्रहैः समन्तादुदितैरनुद्रुतं तुषारधामेव शरद्वलाहकम् ॥३४॥

इस प्रकार मित्रों से घिरे हुए राजा नल ने भीम के धवल राजभवन में प्रवेश किया। मालूम हो रहा था जैसे सभी उदित ग्रहों से अनुगमित शुभ्र शरत्कालीन मेघ ही हों ॥ ३४ ॥

अथोपयन्तुः प्रणयाभिवृद्धये ननाम कन्या गिरिजां गुरोर्गिरा।
प्रसाद्य तामेव भृशं समश्नुते वधूजनः श्लाघ्यगुणोऽपि काङ्क्षितम् ॥

पति के स्नेहवर्द्धन के लिए गुरुवाणी से दमयन्ती ने गौरी पूजन किया। गौरी को प्रसन्न कर ही प्रशंसनीय गुणों से युक्त वधुएँ मनोवाञ्छित फल प्राप्त करती हैं ॥ ३५ ॥

कुलाङ्गनानामभजद्विधेयतां नलस्तदा माङ्गलिकेषु कर्मसु।
सतां समाचारमवारितं श्रुतौ श्रुतं प्रपन्ना अपि नोज्झितुं क्षमाः ॥३६॥

तब नल ने माङ्गलिक विधियों में कुलांगनाओं के (बताये हुए) कर्तव्य का पालन किया या (दासत्वको) प्राप्त किया। शास्त्रज्ञ होते हुए भी, वेद में अप्रतिषिद्ध श्रेष्ठजनों के आचरण को छोड़ने में समर्थ नहीं हुए ॥ ३६ ॥

ततो गतः कौतुकवेदिकान्तरं विदर्भराजेन नलः कृतार्चनः।
समाहितान्तःकरणं समादधे हुताशनं तत्र विवाहसाक्षिणम् ॥३७॥

इसके बाद विदर्भ राज से पूजित नल विवाह मण्डप में गये। वहाँ विवाह के साक्षी अग्नि को ध्यानपूर्वक धारण किया ॥ ३७ ॥

नलस्य पाणौ विधिवद्वधूकरं विधाय यावन्न ददौ जलं गुरुः।
परस्परस्पर्शवशात्तदैव तौ बभूवतुः स्वेदजलैः परिप्लुतौ ॥३८॥

वधू के हाथ को विधिपूर्वक नल के हाथ में रख कर गुरु के जलदान के समय परस्पर स्पर्श के कारण वे दोनों (नल और दमयन्ती) पसीने से लथपथ हो गये ॥ ३८ ॥

ततो नलस्य प्रतिपादितः करे विदर्भराजेन दमस्वसुः करः।
निनिन्द कान्त्या नितरां मनोज्ञया नभस्वतावर्जितमम्बुजेऽम्बुजम् ॥३९॥

विदर्भराज भीम के द्वारा नल के हाथ में रखा हुआ दमयन्ती का हाथ अपनी कान्ति एवं सौन्दर्य से, हवा से (हिलने के कारण) आवर्जित कमल में स्थित कमल को (उसकी शोभा को) तिरस्कृत कर दिया ॥ ३९ ॥

हुताशनस्तावुपशिक्षयन्निव प्रदक्षिणप्रक्रमणं वधूवरौ।
भृशं तथैवाभ्रमयन्मुहुर्मुहुर्निजां शिखां लाजहविर्भिरर्चितः ॥४०॥

उन दोनों वर-वधू को प्रदक्षिणा के समय पादक्षेप की शिक्षा देने के

लिए हविष्य अर्चित अग्नि ने भी अपनी शिखा को बार-बार उसी प्रकार घुमाया ॥ ४० ॥

वधूर्विवाहानलधूमविक्लवा निमीलयन्ती क्षणमीक्षणद्वयम् ।
चकार कर्णार्पितयोरयत्नतः सपत्नशून्यामसिताब्जयोः श्रियम् ॥४१॥

विवाहाग्नि के धुआँ से उद्‌विग्न क्षणभर अपनी आँखें बन्द करती हुई दमयन्ती ने अनायास ही, कानों में लगाये हुए नीलकमल की शोभा को प्रतिद्वन्द्विता से हटा दिया ॥ ४१ ॥

नरेश्वरे सप्तपदीविधित्सया करेण भैम्याश्चरणं जिघृक्षति ।
निरीक्ष्य साकूततरङ्गितेक्षणं सखीजनं नम्रमुखी बभूव सा ॥४२॥

सप्तपदी विधि करने की इच्छा से राजा के द्वारा हाथ से दमयन्ती का चरण ग्रहण करते समय सखियों की अर्थभरी दृष्टि देख कर उसने (दमयन्ती) लज्जा से सर झुका लिया ॥ ४२ ॥

ततः कुमारी गुरुणाभ्युदीरिता समुन्नताक्षी ध्रुवमैक्षताम्बरे ।
नलस्तु तस्या वदनं विभावयन्नमन्यताभ्याशगतं सुधानिधिम् ॥४३॥

गुरुओं के निर्देश पर उस कुमारी दमयन्ती ने आकाश में ध्रुव को देखा। उसके मुख को देखते हुए नल को ऐसा लगा मानों चन्द्रमा ही समीप आ गया हो ॥ ४३ ॥

ततो महार्हासनमेकमास्थितौ वितीर्णदायौ कृतमङ्गलाशिषौ ।
विलोक्य जामातरमात्मजां च तां मुदं विदर्भाधिपतिः परां ययौ ॥४४॥

माङ्गलिक आशीर्वाद प्राप्त कर दान-दहेज ग्रहण कर मूल्यवान आसन पर एकसाथ बैठे हुए अपनी पुत्री एवं जामाता को देख कर विदर्भ नरेश परमानन्दित हुए ॥ ४४ ॥

विदर्भराजात्मजयान्तिकस्थया नलः श्रियं सातिशयामधारयत् ।
विधुः स्वभावादपि नेत्रदोहदात्किमुच्यते पौर्णिमया समागतः ॥४५॥

विदर्भराज की पुत्री दमयन्ती के साथ बैठे हुए नल अत्यधिक शोभित हुए। स्वभावतः नेत्रों की अभिलाषा पूर्ण करने वाले चन्द्रमा से भी पूर्णिमा का चाँद कितना सुन्दर लगता है ॥ ४५ ॥

जगुर्यदुच्चैः परिहासपेशलं विलोकयन्त्योऽपि गुरोः कुलाङ्गनाः ।
ततोऽभिशङ्के निषधेन्द्रमीक्षितुं ह्रियोऽपि तासां हृदयाद्बहिर्गताः ॥४६॥

श्रेष्ठ जनों को देखकर भी कुलाङ्गनाएँ जोरों से जो परिहास कर रही थीं, उससे ऐसी शङ्का होती है कि नल को देखने के लिए लज्जा भी उनके हृदय से निकल कर बाहर आ गई है ॥ ४६ ॥

ततः समादाय रविर्दिनश्रियं प्रवृद्धरागश्चरमाचलं ययौ ।
नलश्च पर्याप्तमनोरथोदयः प्रियासखः कौतुकमन्दिरोदरम् ॥४७॥

लालिमा बिखेरता हुआ सूर्य अपनी शोभा समेट अस्ताचल पर चला गया। प्रिया ही है सखा जिसकी (अर्थात् केवल दमयन्ती के साथ) नल भी अपना मनोरथ प्राप्त कर प्रमोदगृह में गये ॥ ४७ ॥

गिरां विशेषैः परिहासगर्भितैर्विचेष्टितैश्च स्मरदर्पदीपनैः ।
क्रमान्मृदूद्भावितलज्जया तया निशामनैषीत्प्रियया समं नलः ॥४८॥

परिहासपूर्ण वचनविशेष से एवं कामोद्दीपक चेष्टाओं के द्वारा धीरे-धीरे उत्पन्न लज्जा को कम करती हुई प्रिया दमयन्ती के साथ नल ने रात विताई ॥ ४८ ॥

पुरीं विदर्भामधिसंश्रितं जनं निजैश्चरित्रैरनिशं प्रमोदयन् ।
उवास तत्रैव दिनानि कानिचिद्दमस्वसुः प्रेमवशंवदो नलः ॥४९॥

विदर्भ में रहनेवाले नागारिकों को निरन्तर अपने चरित्र से आनन्दित करते हुए दमयन्ती के प्रेम के वशीभूत होकर कुछ दिन और वहाँ रहे ॥ ४९ ॥

अथायमामन्त्र्य विदर्भभूभुजं प्रियासहायः शिरसा प्रणम्य च ।
रथं समारुह्य समग्रसैनिकः पुरं प्रतस्थे पृथिवीपुरंदरः ॥५०॥

विदर्भ नरेश से अनुमनि लेकर प्रणाम कर प्रिया के साथ रथ पर चढ़ कर समूची सेना सहित पृथ्वीन्द्र नल ने अपने नगर की ओर प्रस्थान किया ॥ ५० ॥

पथि पथि स पुराण्यतीत्य गच्छन्व्यतनुत शून्यतराणि तानि पौरैः ।
स्वविषयमतिदूरमार्गमेते न हि विदुषस्तदनुप्रयाणलोलाः ॥५१॥

रास्ते में नगरों को पार कर नागरिकों के साथ जाते हुए उन (नगरों) को सूना कर दिया। उनके पीछे-पीछे चलने वाले विकल नागरिक (अपने नगर को छोड़) बहुत दूर आगे चले आये हैं यह न जान सके ॥ ५१ ॥

भैमीविलोकनमहोत्सवसंभ्रमेण स्रस्तांशुकैः स्तनभरैर्मृगलोचनानाम् ।
रथ्यान्तरेषु पुनरुक्तसुवर्णकुम्भं शीतांशुवंशतिलकः स्वपुरं विवेश ॥

इति श्रीसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये
नलचरिते दमयन्तीपरिणयो नाम षष्ठः सर्गः ।

दमयन्ती को देखने की जल्दी के कारण मृगलोचनाओं के स्तनों से वस्त्र गिर जाने से मार्गों पर रखे गये स्वर्णघट निरर्थक थे। ऐसे नगर में चन्द्रवंश तिलक राजा नल ने प्रवेश किया ॥ ५२ ॥

श्री सांधिविग्रहिक महापात्र श्री कृष्णानन्द विरचित सहृदयानन्द महाकाव्य के नलचरित्र में दमयन्तीपरिणय नामक षष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ।

सप्तमः सर्गः

तत्र नैषधमनाहृतेन्द्रया भीमराजसुतया सहागतम् ।
मेनिरे गुणविशेषभाजनं नीतियुक्तमिव विक्रमं प्रजाः ॥ १ ॥

इन्द्र का भी तिरस्कार करनेवाली भीमराज की पुत्री दमयन्ती के साथ आये हुए, गुणों के आगार राजा नल को प्रजा ने नीतियुक्त पराक्रम समझा ॥ १ ॥

अन्वहं नवनवैर्गुणान्तरैस्तावुभौ जनितविस्मयौ मिथः ।
तौ रतीकुसुमकार्मुकाविव प्रेमवृद्धिमधिकामवापतुः ॥ २ ॥

दिनानुदिन नवीन गुणों से परस्पर विस्मय उत्पन्न करते हुए उन दोनों ने रति और काम की प्रत्यञ्चा के समान अत्यधिक प्रेम प्राप्त किया ॥ २ ॥

चापयष्टिरिव शुद्धवंशजा सा गुणेन युयुजे यथा यथा ।
प्रेयसी नरपतेर्दिने दिने नम्रतामुपययौ तथा तथा ॥ ३ ॥

कुलीना उस दमयन्ती ने डोरी से युक्त धनुष के समान जैसे-जैसे गुणों को धारण किया वैसे-वैसे दिनानुदिन उस राजा की प्रेयसी ने नम्रता प्राप्त की ॥३॥

तं कदाचिदुपगम्य भूभुजं भीमराजसुतया सह स्थितम् ।
आयतिं हृदि चिराय चिन्तयन्नित्युवाच वचनं सितच्छदः ॥ ४ ॥

दमयन्ती के साथ स्थित महाराज नल के पास जाकर देर तक हृदय में भविष्य की चिन्ता करता हुआ हंस इस प्रकार बोला ॥ ४ ॥

त्वं बृहस्पतिरिवापरः सखे नीतितत्त्वविदुषां पुरःसरः ।
सौहृदं तु मुखरीकरोति मां तेन किंचिदनुशास्मि ते हितम् ॥ ५ ॥

हे मित्र तुम दूसरे बृहस्पति के समान हो एवं नीतिज्ञों में अग्रगण्य हो, फिर भी सौहार्दता मुझे कुछ कहने को प्रेरित कर रही है अतः कुछ तुम्हारे हित की बात कहता हूँ ॥ ५ ॥

वारवामनयनामिवावनीं रागिताः कति न भुञ्जते नृपाः ।
एक एव निपुणः स गीयते रागिणी भवति यत्र सा पुनः ॥ ६ ॥

वेश्याओं के समान इस पृथ्वी का कितने राजा (इससे) अनुरक्त हो (उसका) भोग नहीं करते हैं । किन्तु प्रशंसा उसी एक की होती है, जिससे (स्वयं) पृथ्वी अनुराग करती है ॥ ६ ॥

स्वेषु शर्मसु समुज्झितस्पृहाः साधवः परहितानि तन्वते ।
मूर्ध्नि धारयति केन हेतुना मेदिनीमनुदिनं फणीश्वरः ॥ ७ ॥

अपने आनन्द के विषयों की ओर से निस्पृह होकर साधुजन परहित में लगे रहते हैं । शेषनाग किस लिए हर समय अपने मस्तक पर पृथ्वी को धारण करते हैं ॥ ७ ॥

संपदामधिगमाय कौशलं कस्यचिद्भवति भाग्यशालिनः ।
तादृशः प्रविरलोदयः कृती यस्तु भोक्तुमपि तासिरं क्षमः ॥ ८ ॥

किसी-किसी भाग्यशाली को ही सम्पत्ति उपार्जन की निपुणता आती है । किन्तु वैसे भाग्यशाली विरले ही होते हैं जो अधिक काल तक उसका भोग करने में भी समर्थ होते हैं ॥ ८ ॥

मा स्म गाः क्षणमपि प्रमादितां दुर्बलेष्वपि नरेन्द्र वैरिषु ।
ते हि मत्सरवशंवदीकृताः कैतवेन किल जेतुमीशते ॥ ९ ॥

हे नरेन्द्र शत्रुओं के दुर्बल रहने पर भी क्षणभर के लिए भी असावधान मत हो । वे ही ईर्ष्यावश तुम्हें छल से जीतना चाहेंगे ॥ ९ ॥

संपदां समुदयाय भूयसे वीजतां व्रजति रञ्जनं विशाम् ।
तेन तत्र सततं कृतोद्यमः श्रेयसां भवति भाजनं नृपः ॥१०॥

सम्पत्ति के अर्जन के लिए बार-बार मनुष्यों के द्वारा प्रयत्न किये जाते हैं । अतः निरन्तर उद्योग कर ही राजा कल्याण प्राप्त करता है ॥ १० ॥

देहिनां सुकृतिनां न दुर्लभाः स्वर्णदीपरिसरेषु केलयः ।
त्वादृशेन सुहृदा तु संगतिर्मद्विना जगति केन लभ्यते ॥११॥

पुण्यवान् मनुष्यों के लिए मन्दाकिनी के तट पर क्रीड़ा दुर्लभ नहीं है । किन्तु मुझे छोड़ कर संसार में कौन तुम्हारे समान मित्र के साथ मैत्रीलाभ कर सका है ॥ ११ ॥

यद्भवेन्न विषयस्तपस्विनां यज्वनां च यदतीव दूरतः ।
प्रीतये मम न तत्पदं विधेर्यत्र नास्ति भवता समागमः ॥१२॥

जो तपस्वियों के लिए अप्राप्य है एवं जो याज्ञिकों से अत्यधिक दूर है, ऐसे ब्रह्मा के उस स्थान में भी, तुम्हारी संगति से रहित मुझे प्रसन्नता न होगी ॥ १२ ॥

किं तु भीरुदयतेऽनुजीविनां स्वं नियोगमधिगम्य तिष्ठताम् ।
तेन वोढुमहमम्बुजोद्भवं गन्तुमुत्सुक इवास्मि संप्रति ॥१३॥

किन्तु कार्य में नियुक्त कर स्वयं बैठना अनुजीवियों के मन में भय उत्पन्न करता है । अतः ब्रह्मा को ढोने के लिए मैं इस समय जाना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

तत्र तत्र सुरसिद्धचारणैर्गीयमानममलं यशस्तव ।
मामकं किमपि नोदयिष्यति त्वद्वियोगजनितं मनोज्वरम् ॥१४॥

देवता सिद्धों एवं चारणों से गाया जाता हुआ तुम्हारा निर्मल यश, तुम्हारे वियोग से उत्पन्न मन की पीड़ा को कुछ शान्त करेगा ॥ १४ ॥

इत्युदीर्य कृतमौनबन्धनं वाग्भिरेनमभिनन्द्य नैषधः ।
दोर्युगेन परिषस्वजे खगं निर्जगाम तदनुज्ञया खगः ॥१५॥

इतना कह मौन हुए हंस का वाणी से अभिनन्दन कर नल ने (उसका) बाहों से आलिङ्गन किया । उनकी आज्ञा प्राप्त कर हंस चला गया ॥ १५ ॥

निर्गते सुहृदि खिन्नमानसं तं विनोदयितुमुत्सुकादिव ।
व्यञ्जयन्निजगुणानृतुस्तदा प्रादुरास सुरभेरनन्तरः ॥१६॥

इसके बाद मित्र के चले जाने पर खिन्न हृदय राजा नल का मनोविनोद करने के लिए ग्रीष्म ऋतु अपने गुणों को प्रगट करता हुआ आया ॥ १६ ॥

वीक्ष्य चण्डकिरणस्य रश्मिभिः शुष्यतः क्षितिरुहो निजाश्रयान् ।
झंकृतेन बहुलेन झिल्लिका मुक्तकण्ठमरुदन्मुहुर्मुहुः ॥१७॥

सूर्य की प्रचण्ड किरणों से निजाश्रितों को सूखता हुआ देखकर वृक्ष मानों झींगुर की झङ्कार के द्वारा बार-बार रोया ॥ १७ ॥

चञ्चरीक[1]परिसंनिवेशितैः स्वैः प्रसूननिकरैर्निरन्तरा ।
पाटली विगलितच्छदावलिर्नीललोहितमधारयद्वपुः ॥१८॥

निरन्तर भंवरों से घिरे हुए अपने पुष्पों से गिरे हुए पत्तों वाला पाटल वृक्ष शिव के शरीर की भांति लग रहा था ॥ १८ ॥

मद्भयाद्बहिरलब्धसंश्रयं शैत्यमत्र किल वासरे स्थितम् ।
इत्यवाप्य किमु रोषमूष्मणा गर्भवेश्म रजनीषु जग्रसे ॥१९॥

मेरे भय से बाहर आश्रय न पाकर दिन में शीतलता ने यहीं विश्राम किया, इसलिए क्रोधित होकर गर्मी, रात में घर के भीतर जाग रही है ॥ १९ ॥

शङ्कमान इव तिग्मदीधितेर्दुःसहेन महसा पराभवम् ।
नोद्बभार तरसा नवाङ्कुरं पाटलिश्च्युतपुरातनच्छदः ॥ २० ॥

प्रचण्ड किरणों के असहनीय तेज से नष्ट होने की आशङ्का से पुराने पत्तों से रहित जाटलि वृक्ष ने जल्दी से नवाङ्कुर धारण नहीं किया ॥ २० ॥

वासरे विरतिभाजि मल्लिका किंचिदुच्छ्वसितकुड्मलानना ।
सुप्तमातपभयादिव स्मरं झंकृतैर्मधुलिहामबोधयत् ॥२१॥

थोड़ी कलियों वाली मल्लिका दिन में उदास हो गयी । धूप के भय से सोये हुए काम को मानों भँवरों के गुञ्जार ने जगाया ॥ २१ ॥

---

१. 'परिषन्निषेवितैः' इति पाठः समुचितः ।

स्वेदबिन्दुनिवहैर्द्विधोदितैरूष्मणः प्रणयिनश्च संनिधेः ।
आर्द्रतां न विजहौ मृगीदृशामङ्कगेषु घनसारकर्दमः ॥२२॥

गर्मी एवं प्रेमी की सन्निधि से द्विधा उत्पन्न पसीने से भींगा हुआ कपूर मृगनयनियों को गोद में उत्पन्न गीलेपन को नहीं हटा पा रहा है ॥ २२ ॥

अङ्गना इव वियोगविक्लवाः खिद्यमानकमलाननश्रियः ।
भेजिरे भवनदीर्घिकास्तदा तानवं नवनवं दिने दिने ॥२३॥

वियोग से विह्वल एवं सन्तप्त कमल मुख की शोभा वाली स्त्रियों के समान भवन की वापी प्रतिदिन तनुता को प्राप्त कर रही है ॥ २३ ॥

वल्लभैः सह विहारयोग्यतां सुभ्रुवां समुपगन्तुमुत्सुकाः ।
दीर्घिकाश्चपलमीनराजयो जज्ञिरे तनुतराम्बुसंपदः ॥२४॥

प्रियतम के साथ विहार करने योग्य सुन्दरियों के समीप जाने को उत्सुक चञ्चल मछलियों वाली दीर्घिका ने जल कम कर दिया ॥ २४ ॥

तत्र घर्मसमये विगाढतां याति दुःसहदिनेशरोचिषि ।
भीमराजसुतया सहाभवत्पार्थिवोऽम्भसि विहर्तुमुत्सुकः ॥२५॥

ग्रीष्मकाल मे असह्य सूर्य की किरणों के और अधिक तेज होने पर, दमयन्ती के साथ जलविहार करने के लिए नल भी उत्सुक हुए ॥ २५ ॥

नैषधोऽथ जलकेलिकौतुकाद् भूषणैस्तदुचितैः प्रसाधितः ।
निम्नगामनतिदूरवर्तिनीं कांचिदच्छसलिलां जगाम सः ॥२६॥

जलक्रीड़ा की उत्सुकतावश नल उसके अनुकूल अलङ्कार धारण कर निकटस्थ किसी स्वच्छ जलवाली नदी के समीप गये ॥ २६ ॥

दर्शयन्त्य इव नूतनोदयं सर्गमन्यमबलामयं विधेः ।
भीमराजतनयापुरोगमास्तं प्रयान्तमनुजग्मुरङ्गनाः ॥२७॥

मानों ब्रह्मा की नवोदित दूसरी ही अबलामयी सृष्टि दिखाती हुई दमयन्ती के आगे-आगे चलने वाली अङ्गनायें जाते हुए राजा नल के पीछे चलीं ॥ २७ ॥

प्राप्तसैनिकवृतां विदूरतस्तीरयोरुपवनैर्मनोरमाम् ।
सैकतेषु मणिहर्म्यगर्भितामाससाद सरितं नरेश्वरः ॥२८॥

(सभी) सैनिकों से घिरे हुए द्वार तक दोनों किनारों में घिरे हुए उपवन से मनोरम बालू में मणिमय भवन वाली नदी के समीप आये ॥ २८ ॥

अम्बुकेलिरकरोद्यथा यथा मन्दतां वपुषि तापसंपदः ।
वृद्धिरेव समभूत्तथा तथा सुभ्रुवां मनसि मन्मथोष्मणः ॥२९॥

जैसे-जैसे उन्होंने जलक्रीडा की वैसे-वैसे शरीर ताप घटा, किन्तु कामिनियों के मन में काम का ताप वैसे ही वैसे बढ़ने लगा ॥ २९ ॥

श्लिष्टसूक्ष्मवसनेषु निर्भरं वीचिभिर्विगलितांशुकेषु च।
व्यक्तकान्तिषु न किंचिदन्तरं योषितां स्तनतटेष्वलक्ष्यत ॥३०॥

सटे हुए अत्यन्त महीन कपड़ों में अथवा निरन्तर तरङ्गों से हटे हुए (अतः) दोनों में स्पष्ट दिखाई पड़ने वाले कुच प्रदेश में कोई भेद नहीं था ॥ ३० ॥

अम्बुकेलिभिरपास्तभूषणाः क्षालिताञ्जनतयारुणेक्षणाः।
रेजिरे विलुलितालकाः स्त्रियो मानवृद्धिविधुरीकृता इव ॥३१॥

जलक्रीड़ा के कारण भूषणरहित, अञ्जन के धुल जाने से लाल नेत्रों वाली एवं अस्तव्यस्त बालों वाली स्त्रियाँ मानों मान वृद्धि से विकल हो गई हैं ॥ ३१ ॥

कर्णधारतरुणीभिरास्थितं नौविशेषमधिरुह्य कौतुकात्।
अन्यभू (अन्वभूत्) प्रणयिनीसखः प्रभुस्तत्र वारिणि विहारसंभ्रमम् ॥

पतवार धारण करने वाली तरुणियों के द्वारा रोकी गई नाव पर कुतूहलवश चढ़कर प्रणयिनी-प्रिय प्रभु नल ने वहाँ जल में विहार किया ॥ ३२ ॥

वीक्ष्य वीक्ष्य परितस्तरङ्गिणीरामणीयकमनल्पकौतुकः।
अन्तरम्बु मणिमण्डपे स्थितः प्रेयसीमिदमिदं जगाद सः ॥३३॥

चारो तरफ नदी की रमणीयता देखकर चकित जल के भीतर मणिमण्डप में बैठे हुए राजा नल प्रेयसी से इस प्रकार बोले ॥ ३३ ॥

भूयोभूयस्तिग्मभानोर्मयूखैस्तापोत्सेकं दुःसहं प्राप्य खिन्नाः।
छायादम्भादम्बु नादेयमेतद्गाहन्तेऽमी तीरजाः क्ष्मारुहोऽपि ॥३४॥

निरन्तर सूर्य की किरणों से दुःसह ताप प्राप्त कर खिन्न ये किनारे के वृक्ष भी छाया के व्याज से (मानों कह रहे हैं) "यह जल न लो" अतः डूबे हुए हैं ॥ ३४ ॥

एतासां तव परिवारसुन्दरीणां सौरभ्यं श्वसितसमुद्भवं पिबन्तः।
रोलम्बाः कमलवने नवावतारं वैरस्यं शशिमुखि निर्भरं भजन्ते ॥३५॥

हे शशिमुखि! तुम्हारे परिवार की इन सुन्दरियों के श्वास से उत्पन्न सुगन्ध को पीते हुए भँवरे कमल वन में नीरसता प्राप्त कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

आसां विहाररभसेन परिप्लवानां
वामभ्रुवां स्तनतटेषु विचूर्णितोर्मिः।
एषा सरित्तव विलोकनमङ्गलाय
लाजानिवोत्क्षिपति सुन्दरि वारिबिन्दून् ॥३६॥

हे सुन्दरि! इन भीगीं हुई कामिनियों के स्तन प्रदेश में लगने से छिन्न-भिन्न तरङ्गोंवाली यह नदी तुम्हें देखने के लिए माङ्गलिक लावा के समान जल बिन्दुओं को फेंक रही है ॥ ३६ ॥

आरादस्मत्त्रासनकूजत्पृथुकण्ठं चक्रद्वन्द्वं चञ्चुपुटन्यस्तबिसाग्रम् ।
लक्ष्म्या लेशेनानुसरत्यत्र तवेदं गाढाश्लेषात्त्रोटितहारं स्तनयुग्मम् ॥३७॥

समीप में हो हमलोगों से डर कर शब्द करते हुए चञ्चुपुट में बिस-तन्तु के अग्र भाग को रखे हुए लम्बे कण्ठवाले चकवा चकई का जोड़ा, गाढ़ालिङ्गन से टूटे हुए हार से युक्त तुम्हारे इन स्तनों की शोभा को अंशतः प्राप्त कर रहा है ॥ ३७ ॥

गतिं त्वदीयामवलोक्य मुग्धे विलज्जमाना इव राजहंसाः ।
संबाधमम्भो मदिरेक्षणाभिर्विहाय दूरं तरसा प्रयान्ति ॥३८॥

हे मुग्धे ! तुम्हारी चाल देख कर मानों लज्जित होकर राजहंस विलासिनियों के द्वारा (उत्पन्न) जल की रुकावट को छोड़ कर तेजी से दूर चला गया ॥ ३८ ॥

भणितानुकारचतुराणि पत्त्रिणां विरुतानि तीरतरुनीडशायिनाम् ।
समुदीरयत्यविरला कपोलयोः पुलकावलिं सुमुखि वारयोषिताम् ॥३९॥

हे सुमुखि ! नदी के किनारेवाले वृक्षों के घोसलों में सोनेवाले पक्षियों का, कही हुई बातों के दुहराने में निपुण शब्द वार-वनिताओं के कपोल को पुलकित कर रहा है ॥ ३९ ॥

तरङ्गवातेन विकीर्यमाणैरम्भःपृषद्भिर्मुषितार्कतापाः ।
अध्यास्य वानीरनिकुञ्जगर्भं वैदर्भि कूजन्ति शकुन्तजायाः ॥४०॥

हे दमयन्ति ! पक्षियों की पत्नियाँ तरङ्गों को हवा से फैलते हुए जल कणों से सूर्य की गर्मी शान्त कर वाणीर कुञ्ज में बैठकर कूज रही हैं ॥ ४० ॥

गगनैकदेशमयमास्थितश्चिरं स्थिरदृष्टिरम्भसि निमज्ज्य सत्वरः ।
तव सुभ्रु लोचनविलासतस्करं शफरं मुखेन दधदुत्थितः खगः ॥४१॥

हे सुभ्रु ! आकाश में एक ही जगह बहुत देर तक स्थित, जल में स्थिर दृष्टि डाल कर शीघ्र ही यह पक्षी मुख में तुम्हारे दृष्टि-विलास को चोर मछली को पकड़ कर उड़ गया ॥ ४१ ॥

इयमिह गलदङ्गरागदृश्यं करजपदं स्तनयोस्तिरोदधाना ।
प्रविशति पयसि स्वकण्ठ(दघ्ने) प्रतरणनैपुणशालिनीव बाला ॥४२॥

अङ्गराग के गलने से दिखाई पड़ने वाले स्तनों के नखक्षत वाले अंश को तिरोहित करती हुई यह बाला निपुण तैरनेवाली के समान कण्ठ परिमाण तक जल में उतर गयी ॥ ४२ ॥

वसुसंपदा नियतमत्र विक्रियां तमसः परोऽपि पुरुषः प्रपद्यते ।
अरविन्दबन्धुरपि बन्धुराङ्गि यद्दहतीव गाढमरविन्दमंशुभिः ॥४३॥

दोषरहित पुरुष भी निश्चय ही यहाँ के ऐश्वर्य से विकारयुक्त हो जाता है। हे सुन्दरि ! सूर्य भी किरणों से कमल का प्रगाढ़ आलिङ्गन करता है ॥४३॥

आपिञ्जरोभयतटा मृगलोचनानामङ्गच्युतेन घनकुङ्कुमकर्दमेन।
जम्बूरसेन कनकीकृतकूलभागां जम्बूनदीमनुकरोति तरङ्गिणीयम् ॥४४॥

मृगनयनियों के अङ्ग से च्युत कुङ्कुमादि के पङ्क से जिसके दोनों किनारे पीत वर्ण के हो गये हैं ऐसी यह नदी जामुन के रस से स्वर्ण के समान पीले किनारों वाली जम्बू नदी की तरह लग रही है ॥ ४४ ॥

मध्ये व्योम्नः क्रीडतश्चण्डभानोर्भासा विष्वङ्मूर्च्छितेषु च्छदेषु।
छायां दीर्घां मण्डलीकृत्य मूलं संरक्षन्ति क्ष्मारुहस्तीरजाताः ॥४५॥

मध्य आकाश में स्थित प्रचण्ड सूर्य के तेज से समूचे पत्तों के कुम्हला जाने पर अपनी लम्बी छाया घेर कर किनारे के वृक्ष (अपनी) जड़ों की रक्षा कर रहे हैं ॥ ४५ ॥

प्रतिपदमुपदिश्यमानमार्गः क्षितितिलकः प्रतिहारपालिकाभिः।
मणिमयमपहाय केलिहर्म्यं व्यहरत वारिणि भीमजासहायः ॥४६॥

प्रतीहारियों से मार्ग बताये जाते हुए पृथ्वी के तिलक राजा नल ने मणिमय क्रीड़ा भवन को छोड़ कर केवल दमयन्ती के साथ जल विहार किया ॥ ४६ ॥

अथ मण्डलवन्धनाभिरामं परिवव्रुः परितः प्रभुं मृगाक्ष्यः।
स च मध्यगतो रराज तासां परिवेषान्तरमास्थितः शशीव ॥४७॥

मण्डल में सुशोभित प्रभु नल को मृगनयनियों ने चारों तरफ से घेर लिया। उन लोगों के बीच में राजा नल उसी प्रकार शोभित हुए जैसे मण्डल के बीच में चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ४७ ॥

श्लथांशुके वीचिविघट्टनेन वक्षोजयुग्मे परिणद्धरागम्।
भैमी मुहुस्तोयलवाभिषेकैर्न्यमीलयन्नेत्रयुगं नलस्य ॥ ४८ ॥

तरङ्गों के थपेड़ों से ढीले कपड़ों वाले कुचों में अनुरक्त नल की आँखों को दमयन्ती ने बार-बार जल के छींटों के अभिषेक से बन्द कर दीं ॥ ४८ ॥

परस्परं कुङ्कुमवारिसेचनैर्न केवलं तन्मिथुनं शरीरयोः।
अमोघपातैः कुसुमेषुसायकैः पुपोष रोषं (तोषं) निविडं हृदोरपि ॥४९॥

परस्पर कुङ्कुम जल के सिञ्चन से केवल उनका शरीर ही नहीं अपितु अमोघ प्रहार वाले कामवाण से हृदय भी सन्तुष्ट हुआ ॥ ४९ ॥

अथ भास्वति कुङ्कुमारुणाभे चरमक्ष्माधरचूडचुम्बिविम्बे।
अधिरुह्य नलः प्रतीरहर्म्यं कृतनेपथ्यविधिः पुरं प्रतस्थे ॥ ५० ॥

अस्ताचल चूड़ावलम्बी सूर्य के कुङ्कुम के समान अरुण आभा वाले होने पर वस्त्राभूषण आदि धारण कर नल तट के भवन को छोड़ राजधानी की ओर चल पड़े ॥ ५० ॥

अतीत्य सर्वान्नृपतीनुपेतया दिने दिने प्रौढतरानुरागया।
अरंस्त सोऽत्यर्थमनन्यभुक्तया भुवा विदर्भेन्द्रभुवा च नैषधः ॥५१॥

सभी राजाओं से बढ़ कर दिनानुदिन दृढ़ानुरागयुक्त दूसरे के द्वारा न भोगी हुई पृथ्वी का राजा नल ने विदर्भेन्द्र की पुत्री दमयन्ती के साथ भोग किया ॥ ५१ ॥

आज्ञामप्रतिघातिनीमनुदिनं द्वीपेषु सप्तस्वपि
प्राज्यं राज्यमनभ्रशीतकिरणज्योत्स्नावदातं यशः।
वैदर्भ्या सह विभ्रमं त्रिजग [ती] यूनां मदोच्छेदिनं
पश्यन्नन्तरसूयया कलुषतां भेजे कलिर्नैषधे ॥ ५२ ॥

सातों द्वीपों में इनकी अप्रतिहत आज्ञा विशाल राज्य मेघरहित चन्द्रकिरणों के समान शुभ्र यश एवं तीनों लोकों के युवकों के अहङ्कार का नाशक दमयन्ती के साथ विलास को देखकर कलिकाल नल के प्रति ईर्ष्यालु हो गया ॥ ५२ ॥

पुरंदरपुरःसरेष्वपि सुरेष्वपास्यादरं
स्वयंवरमहोत्सवे तमवृणोद्यदा भीमजा।
ततः प्रभृति निर्भरं स हि बभार तस्मिन्रुषं
परोन्नतिषु मत्सरः सहज एव पापात्मनाम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये
नल-चरिते निदाघवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः।

इन्द्रादि प्रमुख देवताओं का भी अनादर कर जब दमयन्ती ने स्वयंवर में नल का वरण किया, उसी समय से यम के मन में नल के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हुई दूसरों की उन्नति देख पापात्मा सहज ही द्वेषयुक्त हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

श्रीसांधिविग्रहिक महापात्र श्रीकृष्णानन्द विरचित सहृदयानन्द महाकाव्य के नल चरित में ''ग्रीष्म वर्णन'' नामक सप्तम सर्ग समाप्त हुआ।

अष्टमः सर्गः

सहस्राक्षमुखैर्देवैर्निषिद्धोऽपि सहस्रधा।
पुपोष नैषधे रोषं कलिः कलुषिताशयः ॥ १ ॥

इन्द्रादि प्रमुख देवताओं द्वारा हजारों बार मना किये जाने पर भी कलुषित विचारवाला कलि नल से रुष्ट हो गया ॥ १ ॥

अथ तस्यापकाराय निकारं हृदि चिन्तयन्।
समाधिव्याजमास्थाय किंचिन्मीलितलोचनः ॥ २ ॥

उनके अपकार के लिए मन में बुराई सोचता हुआ उसने समाधि लगाने का बहाना बनाकर आखें कुछ मूंद लीं ॥ २ ॥

दग्धस्थाणुरिव श्यामः कृष्णाजिनपरिच्छदः।
प्राप्तः शरीरसंबन्धं साक्षादिव तमोगुणः ॥ ३ ॥

जले हुए वृक्ष के ठूठ को तरह श्यामवर्ण का वह काले चमड़े धारण कर ऐसा लग रहा था मानों साक्षात् तमोगुण ने ही शरीर धारण किया है ॥ ३ ॥

ज्वालाः क्रोधानलस्येव हृदयान्निर्गता बहिः।
पद्मकिंजल्कपिङ्गाभाः शिरसा धारयञ्जटाः ॥ ४ ॥

मस्तक पर कमल के रेशे के समान पीले वर्ण की जटा धारण किए हुए वह ऐसा लग रहा था मानों क्रोधानल की ज्वाला हृदय से बाहर निकल आई है ॥ ४ ॥

सहायं द्वापरं कृत्वा कलिस्तापसवेषधृक्।
भ्रातरं निषधेन्द्रस्य प्रपेदे पुष्करं नृपम् ॥ ५ ॥ (कालापकम्)

द्वापर को सहायक बनाकर तपस्वी का वेश धारण कर कलि राजा नल के भाई पुष्कर के पास पहुंचा ॥ ५ ॥

इयेष सफलां कर्तुं स तेनैव निजां रुषम्।
आमयो वैरबन्धश्च कुलजः किल दारुणः ॥ ६ ॥

उस कलि ने उसी राजा के द्वारा अपना क्रोध सफल करना चाहा। वंशज रोग एवं वैर बड़ा भयङ्कर होता है ॥ ६ ॥

यथाविधि तमभ्यर्च्य पुष्करश्छद्मतापसम्।
निषण्णमासने वाक्यं विनयादिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

राजा पुष्कर उस छद्म वेश धारण करने वाले तपस्वी का यथोचित सत्कार कर आसन पर बैठ जाने के बाद, विनयपूर्वक इस प्रकार बोला ॥ ७ ॥

अवैमि पूतमात्मानं दर्शनानुग्रहात्तव ।
न खल्वक्षीणपापानां त्वादृशैः सह संगतिः ॥ ८ ॥

आपके दर्शन की कृपा से मैं अपने को धन्य मान रहा हूँ । पापरहित हुए विना आप जैसे लोंगों के साथ संगति नहीं होती ॥ ८ ॥

भगवन्कृतकृत्योऽस्मि त्वत्पादपरिचर्यया ।
तथापि श्रेयसे किंचिन्नियोगं प्रार्थयामि ते ॥ ९ ॥

आपके चरणों की सेवा कर मैं कृतकृत्य हूँ । फिर भी कल्याण के लिए कुछ आज्ञा पाने की कामना कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

भूयः प्रणम्य शिरसा रचिताञ्जलिबन्धनः ।
स मुनेः पुरतस्तस्थौ विनयो मूर्तिमानिव ॥ १० ॥

बार-बार मस्तक से प्रणाम करके हाथ जोड़कर मूर्तिमान् विनय के समान वह मुनि के सामने खड़ा रहा ॥ १० ॥

दन्तांशुच्छद्मनान्तःस्थं हर्षमुन्मीलयन्निव ।
पुनः प्रत्यभिनन्द्यैनमाशिषेदमुदाहरत् ॥ ११ ॥

शुभ्र दातों के ब्याज से मानों अपने हृदयस्थ हर्ष को प्रगट करता हुआ फिर से उसका आशीर्वाद से अभिनन्दन कर बोला ॥ ११ ॥.

इमां विश्वंभरां देवीं चतुरम्भोधिमेखलाम् ।
अनन्यशासनं शाधि मत्प्रसादेन मा चिरम् ॥ १२ ॥

चारो ओर से घिरी हुई इस विश्वम्भरा पृथ्वी का मेरी कृपा से शीघ्र ही तुम शासन करो ॥ १२ ॥

तव सिंहासनस्थस्य पादपीठं दिने दिने ।
नीराजयन्तु राजानश्चूडामणिमरीचिभिः ॥ १३ ॥

सिंहासनारूढ़ तुम्हारे पादपीठ का प्रतिदिन राजागण अपनी चूड़ामणि की किरणों से आरती उतारें ॥ १३ ॥

अधमर्णमिवावर्णस्तावद्दूषयतीव माम् ।
त्वद्भक्तेः सदृशीं लक्ष्मीं यावन्नावर्जयामि ताम् ॥ १४ ॥

तुम्हारी भक्ति के अनुसार जब तक मैं उस लक्ष्मी को प्राप्त न कर लूँगा तब तक महाजन से कर्जदार के समान मैं भी निन्दा के ही योग्य हूँ ? ॥ १४ ॥

किं तु दोर्दण्डदर्पेण निर्जित्य पृथिवीभुजः ।
भुनक्ति पृथिवीं कृत्स्नामेक एवाद्य नैषधः ॥ १५ ॥

किन्तु अपने बाहुबल के घमण्ड से सभी राजाओं को जीत कर समूची पृथ्वी का आज अकेले नल ही भोग कर रहा है ॥ १५ ॥

नक्षत्राणीव तिग्मांशोः क्षत्राण्येतस्य तेजसा ।
अन्तरेण रणारम्भं निश्चिनुष्वात्मवैभवम् ॥ १६ ॥

नक्षत्र जैसे सूर्य से (छिप जाते हैं) उसी तरह उसके तेज से राजागण अभिभूत हैं। अतः तुम अपनी उन्नति के लिए युद्ध के अतिरिक्त कोई और उपाय निश्चित करो ॥ १६ ॥

निर्जित्य मदुपायेन निरपायेन नैषधम् ।
दुरासदां समासाद्य श्रियं श्रेयान्कुले भव ॥ १७ ॥

मेरे अमोघ उपाय से नल को जीतकर दुष्प्राप्य लक्ष्मी को प्राप्त कर कुल में श्रेष्ठ बनो ॥ १७ ॥

पुरा पुरारिमाराध्य प्रसादाभिमुखं ततः ।
विद्याऽक्षहृदयं नाम मया लब्धा गृहाण ताम् ॥ १८ ॥

पहले मैंने शिव को प्रसन्न कर उन की कृपा से अक्षहृदय नामक विद्या प्राप्त की है, उसे लो ॥ १८ ॥

तदक्षहृदयं नाम विद्धि संपादनं श्रियः ।
विदित्वैतेन दीव्यन्तः संसेव्यन्ते स्वयं श्रिया ॥ १९ ॥

अक्षहृदय को (तुम अपनी) सफलता संपादन करने वाला समझो। इसको जान कर पासा फेंकता हुआ व्यक्ति स्वयं लक्ष्मी से सेवित होता है ॥ १९ ॥

मादृशानां प्रसादस्य नास्ति पुष्कर दुस्तरम् ।
तथापि पौरुषं किंचिद्राजँल्लक्ष्मीरपेक्षते ॥ २० ॥

हे पुष्कर ! मेरे समान व्यक्तियों के प्रसाद के भागी व्यक्ति के लिए यह कठिन नहीं है। फिर भी राजन् ! लक्ष्मी के लिए पुरुषार्थ करना ही पड़ता है ॥ २० ॥

इत्युदीर्याभवन्मौनी मुनिवेषाश्रितः कलिः ।
पुष्करस्तु प्रणम्यैनमिदमूचे कृताञ्जलिः ॥ २१ ॥

इतना कहकर मुनिवेश धारी कलि मौन हो गया। पुष्कर प्रणाम कर हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला ॥ २१ ॥

भगवन्भागदेयानि फलवन्धोन्मुखानि मे ।
तवेदृशस्तपोराशेः प्रसादो यदभून्मयि ॥ २२ ॥

हे भगवन् ! मेरे भाग्य का सफलोदय हुआ जो आप जैसे तपोनिधि की मुझ पर कृपा हुई ॥ २२ ॥

यन्मे स्फुरति कार्येऽस्मिंस्तदार्येणावधार्यताम् ।
नापैति सहसा बुद्धिर्गहना नीतिवर्त्मनः ॥ २३ ॥

इस कार्य में मुझे जो सूझ रहा है, वह आप सुनें। एकाएक बुद्धि गहन नीति मार्ग से नहीं हट रही है ॥ २३ ॥

क्षमं नाक्षविनोदेन निषधेन्द्रस्य वञ्चनम् ।
मृणालेन मदान्धस्य सिन्धुरस्येव बन्धनम् ॥ २४ ॥

मृणाल से मदान्ध हाथी को बांधने के समान ही द्यूत से नल को ठगना सम्भव नहीं है ॥ २४ ॥

धुरि च्छागो महोक्षस्य बालिशेन नियोजितः ।
नैव क्षमेत तां वोढुं केवलं क्षीयते स्वयम् ॥ २५ ॥

मूर्ख के द्वारा बैल के जुए में बकरा जोते जाने पर वह (बकरा) ढो नहीं सकेगा, केवल अपना ही क्षय करेगा ॥ २५ ॥

फणीन्द्रस्य फणारत्नं मांसमास्यस्थितं हरेः ।
साम्राज्यं निषधेन्द्रस्य को जिहीर्षति कैतवात् ॥ २६ ॥

सर्पराज की मणि, सिंह के मुख से मांस तथा नल के राज्य को छल से हरने की इच्छा कौन कर सकता है ॥ २६ ॥

मादृशः कैतवेनापि नैषधं यदि जेष्यति ।
तदात्येष्यति दर्पेण मृगेन्द्रं मृगवञ्चकः ॥ २७ ॥

मुझ जैसा व्यक्ति भी छल से नल को जीत सकता है, तो शृगाल भी सगर्व सिंह को कब्जे में कर सकता है ॥ २७ ॥

माद्यन्तः पक्षलाभेन संप्राप्य पदमुन्नतम् ।
क्षुद्राः क्षिप्रं विनश्यन्ति प्रावृषीव पिपीलिकाः ॥ २८ ॥

पंख पाकर ऊंचे स्थान में पहुंच कर हर्षित होते हुए क्षुद्र कोड़े वर्षाकाल में शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ २८ ॥

साहसे वर्तमानस्य विपदः स्युः पदे पदे ।
सदृशं चेष्टमानस्य स्वयं लक्ष्मीः प्रसीदति ॥ २९ ॥

दुस्साहस करने वाले व्यक्ति को पग-पग पर विपत्ति मिलती है। अपने सामर्थ्य के अनुरूप कार्य करने वाले पर लक्ष्मी स्वयं प्रसन्न हो जाती हैं ॥ २९ ॥

समारभेत यो वैरं वैरशून्ये बलीयसि ।
सुखसुप्तं स पारीन्द्रं पादाघातैः प्रबोधयेत् ॥ ३० ॥

बलवान् शत्रुतारहित व्यक्ति के साथ जो शत्रुता करता है वह मानों सुख से सोये सिंह को पैरों के आघात से जगा रहा है ॥ ३० ॥

सिद्धिर्दैवपराधीना कर्मणां तत्र कः प्रभुः।
पश्यन्नप्यसतां मार्गं पुरुषस्त्वेति वाच्यताम् ॥ ३१ ॥

सिद्धि दैवाधीन है, किन्तु कर्म करने वाला कौन है ? असज्जनों के मार्ग को देखने वाला व्यक्ति भी निन्दा को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

इति निष्पौरुषोन्मेषं प्रेक्षमाणः स पुष्करम्।
कलिः कलितसंरोधः प्रत्यवोचदिदं वचः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार पुष्कर को पौरुष से रहित देखकर क्रुद्ध हो कलि इस प्रकार बोला ॥ ३२ ॥

नीतश्चक्षुष्मतां याति दृष्ट्यन्धः सरणिं सताम्।
नीयमानोऽपि बुद्ध्यन्धः संमुह्यति पदे पदे ॥ ३३ ॥

नेत्रवान् व्यक्ति द्वारा ले जाया जाता हुआ अन्धा व्यक्ति भी सज्जनों के मार्ग को प्राप्त करता है। किन्तु ज्ञानान्ध व्यक्ति पथ प्रदर्शन के बाद भी पग-पग पर मोहित होता है ॥ ३३ ॥

साध्या श्रीः साधनं क्रीडा सिद्ध्यै च प्रतिभूरहम्।
तथापि तव कातर्यमाश्चर्यं वितनोति मे ॥ ३४ ॥

लक्ष्मी की प्राप्ति साध्य है, क्रीड़ा साधन है, एवं सिद्धि के लिए मैं स्वयं जमानतदार हूँ। तब भी तुम कातरता दिखा रहे हो, इसका ही मुझे आश्चर्य होता है ॥ ३४ ॥

राजन्यापसदाः केचिद्भवन्ति युधि भीरवः।
स्वयं प्राप्तां श्रियं भोक्तुं भीरुरेको भवान्भुवि ॥ ३५ ॥

कुछ अधम राजा होते हैं, युद्ध में डरा करते हैं किन्तु स्वयं आयी हुई लक्ष्मी को भोग करने में मैं तुम्हें ही विश्व में कायर पा रहा हूँ ॥ ३५ ॥

इत्थमुत्साहशून्येऽपि श्रीस्त्वयि प्रणयोन्मुखी।
वधूर्बद्धानुरागेव क्लीबे यास्यति हास्यताम् ॥ ३६ ॥

इस तरह के उत्साहरहित तुम से लक्ष्मी स्नेह कर रही है। जैसे नपुंसक से अनुरक्त वधू हास्यता को प्राप्त करती है ॥ ३६ ॥

अपि तेजस्विनां तेजो वर्धते नोद्यमं विना।
आरूढस्योदयं शैलं रवेः प्रसरति प्रभा ॥ ३७ ॥

बिना उद्योग किये तेजस्वियों का तेज भी नहीं बढ़ता है। पर्वत शिखर पर पहुँचने के बाद ही सूर्य की प्रभा चारो ओर फैलती है ॥ ३७ ॥

स्वीकारे मत्प्रसादस्य दुर्लभस्य जगत्त्रये।
कुतर्कैर्मत्सरीभूय मौर्ख्यमाविष्कृतं त्वया ॥ ३८ ॥

तीनों लोकों में दुर्लभ मेरा अनुग्रह प्राप्त कर भी कुतर्कों से अभिभूत होकर केवल तुमने मूर्खता ही प्रकट की है ।। ३८ ।।

मम तोषश्च रोषश्च संकल्पे कल्पभूरुहः ।
सद्य एव फलं धत्ते न कालं क्षेमुमीश्वरः ।। ३९ ।।

सङ्कल्प में मेरी प्रसन्नता अथवा क्रोध कल्पवृक्ष है, सद्यः फलदायी हैं। ईश्वर भी (उसमें) विलम्ब करने में समर्थ नहीं ।। ३९ ।।

अदश्चराचरं विश्वं विनिवर्तयितुं क्षमाम् ।
विद्धि मां देवतां कांचिन्नाहं साधारणो मुनिः ।। ४० ।।

इस चराचर विश्व को उलटने में समर्थ मुझे देवता समझो । मैं कोई साधारण मुनि नहीं ।। ४० ।।

रत्नानामिव पाथोधिं गुणानामाकरं परम् ।
अपथे नैषधं नेतुं मद्विना कस्य साहसम् ।। ४१ ।।

. रत्नों के समुद्र के समान एवं गुणों के निधान निषधपति नल को कुमार्ग पर लाने का साहस मेरे अतिरिक्त और कौन कर सकता है ।। ४१ ।।

धीराः कीरा इवाम्नायं शृण्वन्ति च पठन्ति च ।
संमुह्यन्ति मया क्लिष्टास्तदादिष्टानुवर्तने ।। ४२ ।।

धीर मनुष्य सुग्गे के समान वेद मन्त्रों को पढ़ते एवं सुनते हैं । मुझसे पीडित (होने पर) वे भी वेदविहित कर्म करने में मोह प्राप्त करते हैं । ।। ४२ ।।

शृण्वन्तोऽपि न शृण्वन्ति हितमुक्तं हितैषिभिः ।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति मयाविष्टाः स्थितिं सताम् ।। ४३ ।।

(वे जो मुझसे ग्रसित हैं) हितैषी व्यक्तियों से कहे गये हित वचन को सुनकर भी नहीं सुनते हैं । मुझसे ग्रस्त व्यक्ति सज्जनों के न्याय्य पथ को देखते हुए भी नहीं देखते हैं ।। ४३ ।

अहं हृदयमाविश्य निषधानामधीशितुः ।
तथा संमोहयिष्यामि यथा स्यात्त्वद्वशंवदः ।। ४४ ।।

मैं निषधपति नल के हृदय में प्रवेश कर उन्हें ऐसा मोहित करूंगा, कि वह तुम्हारे वश में हो जायगा ।। ४४ ।।

महान्तोऽपि पराधीनाः श्रेयसः स्युः पराङ्मुखाः ।
आलानं स्वस्य बन्धाय स्वयमर्पयति द्विपः ।। ४५ ।।

यदि बड़े लोग पराधीन हो जाते हैं तो वे कल्याणकारी विषय से पराङ्मुख हो जाते हैं । हाथी अपने ही बन्धन के लिए स्वयं खूँटा लाता है ।। ४५ ।।

तवाभिशरणौत्सुक्यात्प्रहिता विजयश्रिया ।
दूतिकेवाहशारीयं चरिष्यति गृहे गृहे ।। ४६ ।।

तुम्हारे समीप आने की उत्सुकता से विजयश्री द्वारा भेजा गया यह चौपड़ दूती के समान घर-घर घूमेगी ॥ ४६ ॥

निरुद्धा ताडिताप्येषा तावद्भवति न स्थिरा।
सा त्वदीयं करं प्राप्य यावन्नायाति निर्वृतिम् ॥ ४७ ॥

रोकी जाने पर एवं पीटी जाने पर भी-यह तब तक स्थिर नहीं होती, जब तक यह तुम्हारा हाथ प्राप्त कर सन्तुष्ट नहीं होती ॥ ४७ ॥

सुहृन्मे द्वापरो नाम कृशानोरिव मारुतः।
अक्षानेतानधिष्ठाय श्रेयस्ते साधयिष्यति ॥ ४८ ॥

अग्नि के लिए हवा के समान द्वापर नामका मेरा मित्र इन पासों में निवास कर तुम्हारा इष्ट साधन करेगा ॥ ४८ ॥

इति व्याहृत्य सहसा रूपं कलिरदर्शयत्।
असंस्पृष्टमहीपृष्ठो निरुन्मेषनिमेषदृक् ॥ ४९ ॥

इतना कहकर कलि ने पृथ्वीतल का स्पर्श न करते हुए निर्निमेष दृष्टिवाला अपना रूप एकाएक प्रकट किया ॥ ४९ ॥

तं प्रणम्य कलिं साक्षादक्षांश्चादाय पुष्करः।
प्रतस्थे निषधेन्द्रस्य मन्दिरं देवनोत्सुकः ॥ ५० ॥

साक्षात् उस कलिकाल को प्रणाम कर एवं पासे को ग्रहण कर खेलने के लिए उत्सुक पुष्कर ने निषधेन्द्र नल के भवन को ओर प्रस्थान किया ॥ ५० ॥

लुठतां पादयोर्मूले निर्जितानां महीभुजाम्।
उपदाः प्रतिगृह्णन्तं दृगन्तक्षेपलीलया ॥ ५१ ॥
वन्दिभिर्गीयमानासु निजकीर्तिप्रशस्तिषु।
किंचिन्मीलितपक्ष्मालिं नम्रीकृतमुखाम्बुजम् ॥ ५२ ॥
परस्परं जिगीषद्भिर्विद्वद्भिर्वादकेलिषु।
संदेहग्रन्थिभेदाय प्रार्थितावसरं मुहुः ॥ ५३ ॥
युधि प्रत्यर्थिवीराणां प्रापितानां सुरालयम्।
सचिवैरुपनीतेषु सुतेषु सदयेक्षणम् ॥ ५४ ॥
विध्वस्तविविधाबाधैः पौरैर्जानपदैरपि।
उपश्लोकितचारित्रं त्रिदशैरिव वासवम् ॥ ५५ ॥
सेवावसरमासाद्य दौवारिकनिवेदितः।
अध्यासीनं सभासद्म नलं प्रैक्षत पुष्करः ॥ ५६ ॥ (कुलकम्)

चरणों पर लोटते हुए विजित राजाओं के उपहार को दृष्टिनिक्षेप से ही ग्रहण करते हुए, बन्दियों द्वारा अपनी कीर्त्ति एवं प्रशंसा गाये जाने पर मुदे हुए पपनियों वाले अपने मुख कमल को झुकाकर—

वादविवाद में परस्पर जीतने की इच्छा करने वाले विद्वानों से सन्देह ग्रन्थियों को स्पष्ट करने के लिए बार-बार प्रार्थना करते हुए मन्त्रियों द्वारा लाये गये युद्ध में स्वर्गप्राप्त प्रतिपक्षी वीरों के पुत्रों पर दयापूर्वक देखते हुए बाधारहित नागरिकों से देवताओं द्वारा इन्द्र के समान प्रशंसित चरित्रवाले—

सभा स्थल में बैठे हुए नल की सेवा का अवसर प्राप्त कर द्वारपाल से निवेदित पुष्कर ने देखा ।। ५१-५६ ।।

स्मरतोऽपि कलेराज्ञां प्रसादक्रोधगर्भिताम् ।
आतन्त्रतोऽपि निकृतिं पुष्करस्य समुद्यमः ।। ५७ ।।

प्रसन्नता और क्रोधमिश्रित कलि की आज्ञा का स्मरण कर भी पुष्कर का उद्योग निन्दनीय था ।। ५७ ।।

अपि प्राप्योन्नतिं दूरादभ्याशे निषधेशितुः ।
तरङ्ग इव पाथोधेर्बलोद्देशे व्यशीर्यत ।। ५८ ।।

दूर से उन्नति प्राप्त कर भी नल के समीप समुद्र की लहरों के समान सैन्य समूह में खो गया ।। ५८ ।।

प्रणम्य चरणौ मूर्ध्ना निषधेन्द्रस्य पुष्करः ।
उपाहरत्तु पाणिभ्यां सारीं रत्नविनिर्मिताम् ।। ५९ ।।

पुष्कर ने निषधेन्द्र नल के चरणों को प्रणाम कर रत्ननिर्मित पासे को भेंट किया ।। ५९ ।।

दृष्टिर्निषधराजस्य रत्नसारीमवाप्य ताम् ।
वागुरामिव सारङ्गी चलितुं नाभवत्प्रभुः ।। ६० ।।

निषधेन्द्र नल की दृष्टि उस रत्ननिर्मित पासे से, जाल में फँसी हुई मृगी के समान हटने में समर्थ नहीं हुई ।। ६० ।।

इदमन्तरमासाद्य कलिराविश्य नैषधम् ।
निन्ये विधेयतां सद्यः सादीवारुह्य वाजिनम् ।। ६१ ।।

(नल में) ऐसा अन्तर पा कलि ने नल के हृदय में प्रवेश कर घोड़े पर चढ़े हुए सवार की तरह वश में कर लिया ।। ६१ ।।

कलिनात्मनिविष्टेन निरस्तविनयाङ्कुशः ।
अपथे गन्तुमारेभे मदेनेव करी नलः ।। ६२ ।।

हृदय में कलि के प्रवेश से (नल का) विनय रूपी अङ्कुश नष्ट हो गया । ऐसे नल ने मदमत्त हाथी के समान कुमार्ग पर चलना आरम्भ किया ।। ६२ ।।

वार्षिकेणाम्बुपूरेण कासार इव नैषधः ।
संदूषिताशयस्तेन प्रसादं सहजं जहौ ।। ६३ ।।

वर्षाकालीन जल से भरे हुए जलाशय के समान नल कलि के दूषित विचारों से दूषित होकर अपने सहज आनन्द को नष्ट कर बैठे ॥ ६३ ॥

प्रभामिव सहस्रांशोश्चरमः पृथिवीश्वरः ।
निश्चकर्ष कलिस्तस्य बुद्धिं नैसर्गिकीमपि ॥ ६४ ॥

कलि ने पृथ्वीश्वर राजा नल की सूर्य प्रभा की तरह स्वाभाविक बुद्धि को खींच लिया ॥ ६४ ॥

अथ व्यापार्य कार्येषु सचिवानुचितान्नलः ।
देवनायोद्यमं चक्रे पुष्करेण समं रहः ॥ ६५ ॥

नल ने योग्य सचिवों को अपने-अपने कामों में लगाकर एकान्त में पुष्कर के साथ जुआ खेलना प्रारम्भ किया ॥ ६५ ॥

पारं यान्तीव नौरर्वाक्तीरं प्रति नभस्वता ।
कलिना पुष्करं निन्ये जयश्रीर्नैषधोन्मुखी ॥ ६६ ॥

उस पार की ओर जाती हुई नौका को जैसे हवा सीधे तीर की ओर ले आती है, उसी प्रकार नलोन्मुख जयश्री को कलि ने पुष्कर की ओर फेर दिया ॥ ६६ ॥

भैमी च देहयष्टिश्च शून्या भूषणसंपदा ।
द्वे परं समशिष्येतां निषधेन्द्रस्य दीव्यतः ॥ ६७ ॥

जुआड़ी नल के पास भूषणों से रहित दमयन्ती एवं अपना शरीर यही दो चीजें शेष बचीं ॥ ६७ ॥

करेणुरिव बद्धेव वारिगर्भे भृशाकुला ।
हृतो द्यूतेन राजर्षिर्निवासं पुष्करेऽकरोत् ॥ ६८ ॥

जल के बीच फँसी हुई अत्यन्त आकुल हथिनी के समान जुए में विजित राजर्षि नल भी पुष्कर के अधीन थे ॥ ६८ ॥

दोर्दण्डलीलया लक्ष्मीं प्रत्याहर्तुमपि क्षमः ।
नैषधः समयाकाङ्क्षी न चक्रे विक्रमोदयम् ॥ ६९ ॥

भुजाओं के प्रताप से लक्ष्मी को लौटा लेने में समर्थ भी नल ने समय की प्रतीक्षा करते हुए आक्रमण नहीं किया ॥ ६९ ॥

पुष्करेण जितामूर्वीं स्रजं मूर्ध्नश्च्युतामिव ।
पद्भ्यामपि न संस्प्रष्टुमुत्सेहे निषधेश्वरः ॥ ७० ॥

मस्तक से गिरी हुई माला के समान पुष्कर से जीती हुई पृथ्वी को नल ने पैरों से भी स्पर्श करने की इच्छा नहीं की ॥ ७० ॥

भुवं पुष्करसात्कृत्वा प्रतस्थे काननं नलः ।
न रज्यति मनः प्रायः सतां परपरिग्रहे ॥ ७१ ॥

पृथ्वी को पुष्कर के अधीन कर नल ने वन की ओर प्रस्थान किया। प्रायः सज्जनों का मन दूसरों की अधीनता में नहीं रमता ॥ ७१ ॥

अद्य निश्चीयतेऽस्माभिर्व्रीडाशून्यं विधेर्मनः।
यदेष निषधेन्द्रस्य पदेऽर्पयति पुष्करम् ॥ ७२ ॥

हमें आज निश्चित मालूम होता है कि विधाता लज्जाशून्य हैं। क्योंकि यह नल के स्थान को पुष्कर को दे रहा है ॥ ७२ ॥

गुणानां स्पृहणीयत्वं भजतेऽद्य विपर्ययम्।
यदस्यैते समेत्यापि न स्थिरां कुर्वते श्रियम् ॥ ७३ ॥

गुणों की स्पृहणीयता आज उल्टी सिद्ध हो रही है। राजा नल के सभी गुण मिलकर भी लक्ष्मी को स्थिर न कर सके ॥ ७३ ॥

योषित्प्रोषितनाथेव जीवनं वोज्झिता तनुः।
तैस्तैरङ्गैः समग्रापि नगरी नाद्य शोभते ॥ ७४ ॥

पति से रहित स्त्री एवं प्राणशून्य शरीर के समान सभी चीजों से परिपूर्ण भी नगरी आज शोभित नहीं हो रही है ॥ ७४ ॥

नितरामापतध्येनः कष्टं द्राघीयसायुषा।
यदद्य निषधेन्द्रस्य विरहोऽपि सहिष्यते ॥ ७५ ॥

पाप का उदय हो गया और इस लम्बी आयु से अत्यन्त कष्ट हो रहा है। क्योंकि आज निषधेन्द्र नल का विरह भी सहन करना पड़ेगा ॥ ७५ ॥

समभ्युन्नतदण्डेऽपि न्यस्यन्ती पुष्करे पदम्।
धरित्री सह तेनैव भृशं भङ्गमुपैष्यति ॥ ७६ ॥

उन्नत दण्ड धारण किये पुष्कर में स्थान प्राप्त करने वाली पृथ्वी भी उन्हीं के साथ विनाश को प्राप्त होगी ॥ ७६ ॥

प्रत्यग्रा मालतीमाला शुनः कण्ठ इवार्पिता।
श्रीरियं निषधेन्द्रस्य पुष्करे शोच्यतां गता ॥ ७७ ॥

कुत्ते के गले में डाली गयी मालती की माला के समान पुष्कराधीन राजा नल की लक्ष्मी शोचनीयता को प्राप्त हुई ॥ ७७ ॥

नलस्य निर्जितारातेर्युधि द्यूते पराजयः।
जनस्य लङ्घिताम्भोधेर्गोष्पदे मज्जनोपमः ॥ ७८ ॥

युद्ध में शत्रुओं को जीतने वाले नल का जुए में पराजित होना उसी प्रकार है जैसे समुद्र पार करने वाले पुरुष का गौ के खुर के गढ़े में डूबना ॥ ७८ ॥

यस्य बाहुतरुच्छायां जगदाश्रित्य जीवति।
स कथं श्रयतु च्छायां कानने कस्यचित्तरोः ॥ ७९ ॥

जिसका बाहु रूपी वृक्ष की छाया प्राप्त कर संसार जीता है, वह भला कैसे जंगल में किसी वृच की छाया का आश्रय करे ॥ ७६ ॥

मृगत्वमपि मृग्यं नस्तत्र तत्र वनान्तरे ।
भ्रमणं यत्र यत्रास्य सुलभं स्यादुपासनम् ॥ ८० ॥

उस वन में जहां इनके साथ घूमना रहना सुलभ है । हमलोग मृगत्व प्राप्त करने की भी अभिलाषा रखते हैं ॥ ८० ॥

इत्थं वाचः सचिवनिवहैर्विक्लवैरुच्यमानाः
श्रावं श्रावं सह दयितया निर्गतः सौधमध्यात् ।
पौरस्त्रीणां नयनगलितैर्निर्भरं बाष्पवारां
धारासारैः शमितरजसं राजमार्गं स भेजे ॥ ८१ ॥

[इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये नल-चरिते निषधेन्द्रवनगमनं नामाष्टमः सर्गः ।

दुखी मन्त्रियों से कही जाती हुई इस प्रकार की बातें सुनते हुए पत्नीसहित नल महल से बाहर हुए । पुरवासिनी स्त्रियों की आंखों से गिरती जल की धारा शमित धूलवाले राजमार्ग पर चले ॥ ८१ ॥

श्रीसांधिविग्रहिक महापात्र श्रीकृष्णानन्द विरचित सहृदयानन्द महाकाव्य के नल चरित में "निषधेन्द्र वन-गमन" नामक अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ।

नवमः सर्गः

ततः समृद्धश्रियमप्यपास्य वनं प्रयास्यन्न शुचं स लेभे ।
दैवादुपेतास्वविशेषवृत्ति सतां हि संपत्सु विपत्सु चेतः ॥ १ ॥

तदनन्तर विपुल वैभव को भी छोड़कर वन की ओर प्रस्थान करते हुए उन्हें शोक नहीं हुआ । नियति द्वारा प्राप्त सम्पत्ति अथवा विपत्ति में सज्जनों का चित्त समान ही रहता है ॥ १ ॥

तथोन्नतां स्वां पदवीं विहाय वनप्रवेशाय निवद्धरागम् ।
दिनस्य लक्ष्मीरिव तिग्मभानुं विदर्भजा नैषधमन्वयासीत् ॥ २ ॥

अपनी उस उन्नत अवस्था को छोड़ कर वन जाने के लिये समुत्सुक नल के पीछे दमयन्ती, सूर्य के साथ दिनश्री के समान चली ॥ २ ॥

अमुञ्चतां तौ मणिभूषणानि नैसर्गिकी श्रीस्तु न तौ मुमोच ।
नोपाधिमविच्छति यस्तु बाह्यं प्रेम्णां स एव प्रथिमा समग्रः ॥३॥

उन दोनों ने रत्नाभूषण त्याग दिया, किन्तु उनका स्वाभाविक सौन्दर्य बना ही रहा । प्रेम की पूर्णता वही है, जहां बाह्य श्रृङ्गार की अपेक्षा नहीं होती ॥३॥

निवार्यमाणोऽप्यनुजीविलोकः सिषेविषुः प्रागिव तं प्रपेदे ।
गुणातिरेकेण वशीकृतानां विपर्ययं याति न जातु चेतः ॥ ४ ॥

रोके जाने पर भी अनुचरवर्ग पहले के समान ही उनकी सेवा में लगे रहे । गुणों के वशीभूत व्यक्तियों का चित्त कभी भी नहीं बदलता ॥ ४ ॥

राजोचितं वेषमपास्य कृत्स्नमादित्समानौ वनवासयोग्यम् ।
तौ दंपती वीक्षितुमक्षमेव दृष्टिर्जनस्याश्रुभिरावृतासीत् ॥ ५ ॥

राजोचित समग्र वेश त्याग वनवास के योग्य वेश धारण किये हुए उन दोनों को, आँसुओं से भरी हुई लोगों की दृष्टि देखने में असमर्थ थी ॥ ५ ॥

नीराज्यते यद्विकचांशुपूरैः किरीटरत्नैर्नमतां नृपाणाम् ।
रथ्यारजोभिः परुषीकृतं तत्तवाङ्घ्रियुग्मं तनुते शुचं नः ॥ ६ ॥

चरणों पर झुके हुए राजाओं के मुकुट के धवल कान्तिमान् रत्नों के द्वारा जिसकी आरती की जाती थी, वे ही गलियों की धूल से रूक्ष तुम्हारे चरण हम लोगों का दुःख बढ़ा रहे हैं ॥ ६ ॥

अद्य प्रसादः कुलदेवतानां विपर्ययं कस्य कृते प्रयाति।
स्पृशन्ति मोघत्वमलब्धपूर्वमाशंसितान्यद्य कथं द्विजानाम्॥ ७॥

आज किस कारण से कुलदेवता अप्रसन्न हो गये हैं। जो कभी निष्फल नहीं हुआ ऐसा ब्राह्मणों का आशीर्वाद भी आज कैसे निष्फल हो रहा है?

मनीषिणां दैवविदां वचःसु विपर्यसे संप्रति संप्रतीतः।
विलक्षतां बिभ्रति लक्षितानि शुभाशुभानामपि लक्षणानि॥ ८॥

दैवज्ञ विद्वानों के वचनों पर अच्छी तरह विश्वास करनेवाले तुम भी इस समय विपत्ति में पड़े हो। शुभ और अशुभ के बताये गये लक्षण स्वरूपहीन हो रहे हैं॥ ८॥

पुण्यक्रियाणां परिणामभाञ्जि फलानि नः काङ्क्षति कोऽद्य हर्तुम्।
अनन्यभाजोऽपि जनानपास्य त्वं नाथ येनाद्य वनं प्रयासि॥९॥

हमलोगों के पुण्यकर्मों से प्राप्त होने वाले फल को आज कौन अपहरण करना चाह रहा है, जिससे हे नाथ! तुम आत्मीय जनों को भी छोड़ कर वन जा रहे हो॥ ९॥

त्वत्पाणिना पालनलालनानामन्तः स्मरन्तः परिहीनदानाः।
विषादमेते विनिवेदयन्ति विघूर्णमानैर्नयनैर्गजेन्द्राः॥१०॥

तुम्हारे हाथों द्वारा लालन-पालन को स्मरण करते हुए मदहीन ये गजराज घूरते हुए आँखों से अपनी वेदना प्रकट कर रहे हैं॥ १०॥

उदीर्णकर्णाः परिमुक्तशष्पाः क्षितिं खुराग्रेण मुहुर्लिखन्तः।
प्रत्याह्वयन्तीव वनं प्रयान्तं ह्रेषास्वनैस्त्वां निषधेन्द्रवाहाः॥११॥

कानों को खड़ा कर घास खाना छोड़ बार-बार अपने खुरों से पृथ्वी को कुरेदते हुए ये घोड़े अपने हिनहिनाने के शब्द से मानों वन जाते हुए तुम्हें बुला रहे हैं॥ ११॥

प्रतिष्ठमानं वनवासहेतोस्त्वां वीक्षितुं पौरजनैः समेतैः।
आकीर्यमाणाप्यभितः पुरीयं शून्येव नाथ प्रतिभासते नः॥१२॥

वन जाने के लिए समुद्यत तुम्हें देखने के लिए समस्त पुरवासियों से चारों तरफ से घिरे रहने पर भी हे नाथ! यह नगरी हमलोगों को सूनी-सी लग रही है॥ १२॥

कथं त्वमप्यस्य निसर्गजातं वात्सल्यमस्मासु निराकरोषि।
अस्मानिहोत्सृज्य वनं प्रयान्तमन्वेषि यन्निष्करुणं नरेन्द्रम्॥१३॥

हमलोगों पर रहनेवाले उनके स्वाभाविक स्नेह कैसे तुम भी छोड़ रहे हो? जो (तुम भी) हमलोगों को यहाँ छोड़ वन जाते हुए निष्ठुर नरेन्द्र का अनुसरण कर रहे हो?॥ १३॥

तथा यथा कुण्ठय कण्टकानामग्राणि तीक्ष्णानि वनस्थलि त्वम् ।
त्वयि भ्रमन्तीं निषधेन्द्रपत्नीं यथा यथा न व्यथयन्ति तानि ॥१४॥

हे वनस्थली, तुम काँटों के अग्रभाग को इस प्रकार कुण्ठित कर दो जिससे तुम्हारे ऊपर चलती हुई दमयन्ती को वे कष्ट न दे सकें ॥ १४ ॥

नूनं पुनः पास्यसि नाथ नस्त्वं न हीयतेऽद्यापि हि तेऽनुभावः ।
प्रायोंऽशुमानस्तमुदेति भूयः क्षीणोऽपि वृद्धिं लभते सुधांशुः ॥१५॥

हे नाथ ! निश्चय ही पुनः तुम हमलोगों का पालन करोगे, तुम्हारा प्रभाव आज भी नष्ट नहीं हुआ है । सूर्य भी अस्त होता ही है, और चन्द्रमा भी पुनः वृद्धि प्राप्त करता ही है ॥ १५ ॥

इत्थं गिरः पौरजनैः समेतैर्बाष्पोद्गमव्याकुलमुच्यमानाः ।
यथाभितापाय तयोर्बभूवुरभूत्तथा नाध्वपरिश्रमोऽपि ॥१६॥

अश्रुसिक्त समस्त पुरवासियों से इस प्रकार कही जाती हुई वाणी उन दोनों के लिए जितनी कष्टकर हुई, उतना मार्गजन्य श्रम भी कष्टकर नहीं हुआ ॥१६॥

आश्वास्य सम्यग्वचनैरुदारैरुदग्रशोकान्विनिवर्त्य पौरान् ।
स प्रान्तरं प्राप समं महिष्या रविश्च मध्यं नभसः प्रपेदे ॥१७॥

शोकाभिभूत पुरवासियों को उदार वचनों से सम्यक् आश्वासन दे उन्हें लौटाकर नल ने रानी दमयन्ती के साथ वन में प्रवेश किया, एवं सूर्य भी मध्य आकाश में पहुँच गया ॥ १७ ॥

रवेः करैस्तापजुषां जनानां तापापनोदाय न मेऽस्ति शक्तिः ।
इतीव लज्जाविधुरा तरूणां छाया भृशं संकुचिता बभूव ॥१८॥

सूर्य की किरणों से अभितप्त जनों का ताप दूर करने की शक्ति मुझमें नहीं है । इस लज्जा से दुखी वृक्षों की छाया मानों अत्यन्त संकुचित हो गयी ॥ १८ ॥

अन्तःपुरस्था निषधेन्द्रपत्नी न प्रागियं मां सकृदप्यपश्यत् ।
इतीव जातानुशयो विवस्वान्भैमीं बबाधेऽभ्यधिकं मयूखैः ॥१९॥

अन्तःपुर में रहनेवाली निषधेन्द्रपत्नी दमयन्ती ने पहले कभी एकबार भी मुझे नहीं देखा । इस क्रोध से सूर्य ने अपनी किरणों से दमयन्ती को अत्यधिक पीड़ित किया ॥ १९ ॥

यतो यतश्चण्डरुचिर्मयूखैस्तताप गात्राणि नरेश्वरस्य ।
ततस्ततः खेदवशंवदापि चकार भैमी करमातपत्रम् ॥ २० ॥

जहाँ सूर्य ने अपनी किरणों से नरेन्द्र के शरीर को अभितप्त किया वहाँ-वहाँ स्वेदयुक्त होने पर भी दमयन्ती ने अपने हाथ को ही छाता बनाया ॥२०॥

उन्मीलयन्तीषु निसर्गरागं विदर्भजायाश्चरणाङ्गुलीषु।
पथि प्रमृष्टापि भृशं रजोभिरलक्तकश्रीः पुनराविरासीत् ॥२१॥

स्वाभाविक लालिमा प्रकट करती हुई दमयन्ती के चरणों की अंगुलियों में आलता की शोभा रास्ते में धूल से धूसरित होने पर भी पुनः उत्पन्न हो गयी ॥ २१ ॥

ततो रवेरातपसंभृतैस्तौ घर्मोदबिन्दुस्तबकैश्चिताङ्गौ।
परस्परं वीक्ष्य निकामखिन्नौ निपेदतुः कापि निकुञ्जगर्भे ॥२२॥

तदनन्तर सूर्य के ताप से उत्पन्न स्वेदबिन्दुओं से लथपथ वे दोनों एक दूसरे को अत्यन्त खिन्न देखकर किसी निकुञ्ज की ओर गये ॥ २२ ॥

स तत्र भैमीमतिमात्रखिन्नां प्रकामदुर्गामटवीं च वीक्ष्य।
तां प्रापयिष्यन्नगरीं विदर्भामिदं बभाषे वचनं नरेन्द्रः ॥२३॥

अत्यन्त थकी हुई दमयन्ती को तथा दुर्गम वन को देखकर दमयन्ती को विदर्भ नगरी की ओर लौट जाने के लिए प्रेरित करते हुए नल इस प्रकार बोले ॥ २३ ॥

शरीरयष्टिर्भवती च नूनमालम्बनं मे हतजीवितस्य।
तयोस्तु दुःखानुभवाय योग्या पूर्वैव शातोदरि न द्वितीया ॥२४॥

यह (मेरा) शरीर एवं तुम, यही दो मुझ अभागे के अवलम्ब हैं। हे कृशोदरि ! उन दोनों में (अर्थात् मेरे शरीर और तुममें) पहला ही अर्थात् मेरा शरीर ही कष्ट सहन करने के योग्य है, तुम नहीं ॥ २४ ॥

उपस्थिता दुःखपरम्परा मा चिरेण सेवावसरं निरूप्य।
अद्यापि चेन्मामनुवर्तसे त्वं बाधिष्यते रोषवतीव सा त्वाम् ॥२५॥

यह दुःख परम्परा बहुत दिनों पर मेरी सेवा का अवसर पा उपस्थित हुई है। यदि आज भी तुम मेरा अनुगमन करोगी तो वह निश्चित ही क्रुद्ध होकर तुम्हें पीड़ित करेगी ॥ २५ ॥

वैदर्भि दूर्वाङ्कुरदुर्गमासु पद्भ्यां भ्रमन्ती विपिनस्थलीषु।
त्वं मा कृथाः काननदेवतानां बाष्पाम्बुमोक्षे प्रथमोपदेशम् ॥२६॥

दूर्वाङ्कुर युक्त दुर्गम वनस्थली में नंगे पैर घूमती हुई तुम वनदेवताओं को आंसू बहाने की प्रथम शिक्षा मत दो ॥ २६ ॥

कृतं श्रिया साधु मयानुविष्टा यन्मां परित्यज्य तदैव याता।
वने वने मामनुवर्तमाना त्वं खिद्यसे सुन्दरि कस्य हेतोः ॥२७॥

मुझसे अनुरक्त लक्ष्मी ने ठीक ही किया जो उसी समय मुझे छोड़कर चली गई। किन्तु वन-वन में मेरा अनुगमन करती हुई तुम किसलिए कष्ट सह रही हो ? ॥ २७ ॥

जातासि वैदर्भि तदैव शोच्या यदावृणोर्मां त्रिदशानपास्य ।
कल्पद्रुमेभ्यो विमुखी लतेव समाश्रिता तीरतरून्स्रवन्त्याः ॥२८॥

हे दमयन्ती ! कल्पवृक्ष से विमुख हो नदी तट के वृक्ष का आधार ग्रहण करनेवाली लता के समान, तुम तो उसी दिन शोचनीय दशा को प्राप्त हुई, जिस दिन देवताओं को छोड़कर तुमने मेरा वरण किया ॥ २८ ॥

वपुस्तवेदं वनवासकष्टैः शिरीषपुष्पं च रवेर्मयूखैः ।
भृशं परिक्लेशयतो विधातुरलद्घि चेतः करुणादरिद्रम् ॥२९॥

वनवास के कष्टों से तुम्हारे इस शरीर को एवं सूर्यकिरणों से शिरीष-कुसुम को अत्यन्त पीड़ित करने वाले विधाता का हृदय दया से शून्य मालूम होता है ॥ २९ ॥

तनुस्तवेयं रुचिरा विधातुः स्त्रीसृष्टिशिल्पं सफलीकरोतु ।
इत्थं पुनः क्लेशविशेषयोगाच्चिरार्जितं तस्य यशः क्षिणोति ॥३०॥

तुम्हारा यह सुन्दर शरीर ब्रह्मा के रचनाकौशल को सफल करे। किन्तु इस प्रकार के क्लेशविशेष के सहन करने से तुम्हारा शरीर उनके चिरार्जित यश को नष्ट कर रहा है ॥ ३० ॥

चित्रार्पितेभ्योऽपि बिभेषि पूर्वं वनेचरेभ्यो दमयन्ति येभ्यः ।
तैरेव सार्धं विहरिष्यसि त्वं कथं पुलिन्दीव वनस्थलीषु ॥३१॥

पहले चित्र में बने हुए जिन वनेचरों से भी तुम्हें डर लगता था, वही तुम वनस्थली में उनके साथ किस प्रकार जंगली जाति की स्त्री के समान घूम सकोगी ॥ ३१ ॥

सोपानपङ्क्तिष्वपि खेदिनी या मदंसविन्यस्तभुजं प्रयासि ।
सा त्वं कथं मार्गरुधां गिरीणामुल्लङ्घनायोद्यममातनोषि ॥३२॥

सीढ़ियों पर चढ़ते समय थक कर जो तुम मेरे कन्धे पर हाथ रख चलती थीं, वही तुम कैसे रास्ता रोकने वाले पर्वतों को लाँघने में समर्थ होगी ॥ ३२ ॥

कुतूहलादङ्गनमल्लिकानामुच्छिद्य पुष्पाण्यपि खिद्यते यः ।
फलं च मूलं च वनेषु हर्तुं स एव पाणिः क्षमतां कथं ते ॥३३॥

कुतूहलवश आँगन के मल्लिकापुष्प को तोड़ने में भी जिसे कष्ट होता था, वे ही तुम्हारे हाथ वनों में फल-फूल तोड़ने में कैसे समर्थ होंगे ॥ ३३ ॥

वनस्थलीयं मृगयाविहारे सहस्रकृत्वः परिशीलिता मे ।
निरूपितं यन्न मया पुरासीन्नह्येकमप्यत्र पदं तदस्ति ॥३४॥

शिकार खेलते समय हजारों बार मैंने इस वनस्थली में परिभ्रमण किया है। यहाँ ऐसा कोई भी स्थान नहीं जिसे पहले मैंने कभी नहीं देखा है ॥ ३४ ॥

पुरश्चकोराक्षि विलोकय त्वं य एष दीर्घः सरलश्च पन्थाः।
सिप्रातरङ्गैः परिरभ्यमाणां पुण्यामवन्तीमयमभ्युपैति ॥३५॥

हे चकोर के समान आँखोंवाली दमयन्ती! देखो तो यह जो सीधा एवं लम्बा रास्ता है, वह शिप्रा नदी की तरङ्गों द्वारा चूमा जाता हुआ पवित्र अवन्ति देश की ओर जाता है॥ ३५॥

तस्यां महाकालकृतास्पदस्य देहार्धतां शूलभृतः प्रपन्नाम्।
आराध्य गौरीं व्रज दक्षिणाशां दिदृक्षसे चेद् गिरिमृक्षवन्तम् ॥३६॥

उस नगरी में महाकाल नामक स्थान के शिव की अर्द्धाङ्गिनी गौरी की पूजा कर यदि भालुओं वाले पर्वत को देखना चाहती हो तो दक्षिण दिशा की ओर बढ़ो॥ ३६॥

खर्वीकृतं कुम्भसमुद्भवेन विलङ्घ्य रेवाप्रभवं नगेन्द्रम्।
विगाह्य वैदर्भि पयः पयोष्ण्यास्त्वमुष्णमध्वश्रमजं जहीहि ॥३७॥

कुम्भपुत्र (अगस्त्य) के द्वारा दबाये हुए एवं रेवा नदी के उद्गमवाले पर्वत को लाँघ कर हे दमयन्ति! पयोष्णी नदी में स्नान कर मार्ग के श्रम से उत्पन्न गर्मी दूर कर सकती हो॥ ३७॥

ततः प्रिये नातिदवीयसीषु क्वचित्क्वचित्काननगर्भितासु।
स्थलीषु नेत्रातिथितां नयस्व खुराग्रचिह्नानि तुरंगमाणाम् ॥३८॥

हे प्रिये! तदनन्तर समीप ही कहीं जंगल के मध्यस्थित स्थलों में घोड़ों के खुराग्र चिह्नों को देखोगे॥ ३८॥

विषाणिनश्छिन्नविषाणकोणाः शिखण्डिनः खण्डितपुच्छभागाः।
गोत्रे वराहाः कलितव्रणाश्च यास्यन्ति ते लोचनगोचरत्वम् ॥३९॥

पर्वत पर टूटे हुए सींगवाले जानवर, टूटे हुए पूँछ वाले मयूर एवं व्रणयुक्त शूकर आदि तुम्हें दिखाई देंगे॥ ३९॥

भित्त्वापि सत्त्वान्यविमुच्य वेगं स्कन्धे निमग्नानवनीरुहाणाम्।
शिलीमुखान्काञ्चनचित्रपुङ्खान्वीक्षस्व मुग्धे मुखमुन्नमय्य ॥४०॥

हे मुग्धे! कहीं-कहीं जीवों का भेदन करने के बाद भी तीव्र वेगवाले वृक्षों के स्कन्ध-प्रदेश में गड़े हुए वाण पुङ्ख को मुख उठाकर देखोगी॥ ४०॥

पुङ्खेषु तेषां कनकद्रवेण न्यस्ताक्षरं नाम तवाग्रजस्य।
निवर्तयन्ती वरवर्णिनि त्वं नेदीयसीं विद्धि पुरीं विदर्भाम् ॥४१॥

उन बाणों के पुङ्ख पर स्वर्णाक्षर में तुम्हारे अग्रज बड़े भाई के नाम अङ्कित होंगे। हे सुन्दरि! लौटती हुई तुम विदर्भ नगरी को समीप ही समझना॥४१॥

ततस्तनूकृत्य मनोभितापं पुरीं प्रयान्त्याः कतिचित्पदानि।
अभ्यर्णमायास्यति कर्णयोस्ते मञ्जीरशिञ्जामधुरो निनादः ॥४२॥

तदनन्तर मन के ताप को कम कर कुछ ही दूर पुरी में प्रवेश करने पर निकट से ही तुम्हारे कानों में नूपुरों की मधुर ध्वनि सुनाई देगी ॥ ४२ ॥

जिज्ञासमाना प्रभवं तदीयं व्यापारयन्ती नयने समन्तात्।
स्वच्छन्दकूजत्कलहंसमालां सरिद्वरां द्रक्ष्यसि सुभ्रु तापीम् ॥४३॥

वह ध्वनि कहां से आ रही है ? यह जानने के लिए अपने नेत्रों को इधर-उधर चारों तरफ घुमाती हुई तुम स्वच्छन्द विचरण करते हुए कलहंसों से कूजित नदियों में श्रेष्ठ ताप्ती नदी भी देखोगी ॥ ४३ ॥

तस्याश्च तीरादविदूर एव तपस्विनामाश्रमसंनिवेशाः।
संपर्कमासाद्य परस्परं ये स्वं पावनत्वं परिवर्धयन्ति ॥४४॥

उसके तट के समीप ही तपस्वियों के आश्रम हैं जिनका सम्पर्क पाकर एक दूसरे की पवित्रता बढ़ाते हैं ॥ ४४ ॥

तानभ्युपेत्य प्रयता प्रयत्नात्तपोधनानां प्रणिपत्य पादान्।
प्रत्यर्चिता तैः कतिचिद्दिनानि चिरं पथः क्लान्तिमपाकुरुष्व ॥४५॥

संयत प्रयत्न से उनके समीप जाकर तपस्वियों के चरणों पर गिरकर उनसे सम्मानित हो कुछ दिन अपने चिर मार्गश्रम को दूर करना ॥ ४५ ॥

त्वां वीक्ष्य वैदर्भि विशुद्धवृत्तां तपस्विनस्ते करुणोपपन्नाः।
संप्रापयिष्यन्ति पुरीं विदर्भां दोर्भ्यां पितुस्ते परिरक्ष्यमाणाम् ॥४६॥

हे दमयन्ति ! विशुद्ध आचरणवाली तुम्हें देख कर (करुणार्द्र) वे तपस्वी तुम्हें उस विदर्भपुरी में ले जायंगे जो तुम्हारे पिता के बाहुओं से रक्षित है ॥४६॥

अहं तु तीर्थेषु विशुद्धदेहः प्रसाद्य दैवं विपरीतवृत्ति।
कालान्तरे नातिविलम्बभाजि भूयः प्रपत्स्ये भवतीं श्रियं च ॥४७॥

मैं तीर्थों में जा शरीर शुद्ध कर विपरीत दैव को प्रसन्न कर कालान्तर में पुनः शीघ्र ही तुम्हें एवं राजलक्ष्मी को प्राप्त करूँगा ॥ ४७ ॥

तैस्तैर्गुणैः संवरणाधृतेन त्वत्प्रेमसूत्रेण विकृष्यमाणम्।
दूरस्थितस्यापि विधेर्वशान्मे मनस्तु मुग्धाक्षि न मोक्ष्यति त्वाम् ॥४८॥

हे मुग्धाक्षि ! दुर्भाग्यवश दूर रह कर भी उन-उन गुणों से सम्वर्द्धित तुम्हारे प्रेम रूपी सूत्र से खींचा जाता हुआ मेरा मन तुम्हें नहीं छोड़ेगा ॥ ४८ ॥

इत्थं नरेन्द्रस्य गिरो निशम्य निजाङ्घ्रिमूले विनिवेशिताक्षी।
बाष्पाम्बुभिः क्लिन्नकपोलपाली विदर्भजा प्राञ्जलिरित्यवादीत् ॥४९॥

राजा की इस प्रकार की बातें सुन कर अपने पैर की अंगुलियों को देखती हुई अश्रुसिक्त कपोलवाली दमयन्ती हाथजोड़ कर बोली ॥ ४९ ॥

धिगस्तु मां वेत्सि नरेन्द्र यस्यास्त्वत्तोऽपि गाढ प्रणयं शरीरे।
इत्थं न चेदिच्छसि कस्य हेतोर्गृहेषु भीमस्य निवासनं मे ॥५०॥

हे राजन् ! आपकी दृष्टि में आपसे भी बढ़ कर अपने शरीर पर ही मेरा अधिक स्नेह है ? अतः मुझे धिक्कार है यदि ऐसी बात न होती तो आप ऐसा क्यों चाहते कि मैं पिता के घर में रहूँ ॥ ५० ॥

अयि त्वदाज्ञापरिमोक्षजन्मा धुनोतु मामेष नवापवादः।
एकाकिनः काननमाश्रितस्य नाराधनं ते परिमोक्तुमीशे ॥५१॥

मैंने तुम्हारी आज्ञा का उल्लङ्घन किया यह नवीन लोकापवाद मुझे पीड़ित कर रहा है। लेकिन अकेले वनवासी तुम्हारी सेवा छोड़ने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ ॥ ५१ ॥

पुरार्जितानां बत दुष्कृतानां सुदुष्करं नाम न किंचिदस्ति।
वक्ता त्वमासीर्वचसां यदेषामाकर्णयन्ती हतजीविताहम् ॥५२॥

पूर्वजन्म के पापों से कुछ भी दुष्कर नहीं है। कहने वाले तुम और हत-जीविता सुननेवाली मैं ॥ ५२ ॥

इति ब्रुवाणैव नरेन्द्रपत्नी विलुप्तसंज्ञा निपपात भूमौ।
ततो गिरः शुश्रुविरे समन्तात्कृपावतीनां वनदेवतानाम् ॥५३॥

इस प्रकार कहती हुई रानी संज्ञाहीन होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। तब चारों ओर से दयालु वनदेवताओं का स्वर सुनाई पड़ा ॥ ५३ ॥

नूनं जनः स्वां मतिमुज्जहाति क्लेशातिभारैरपि पीड्यमानः।
वसन्वनान्तेषु यतस्त्वमीश भैमीवियोगे कृतसाहसोऽसि ॥५४॥

निश्चय ही कष्टभार से पीड़ित होकर मनुष्य अपनी बुद्धि खो बैठता है। (क्योंकि) हे राजन् बन में रह कर भी तुम दमयन्ती के परित्याग का दुस्साहस कर रहे हो ॥ ५४ ॥

नव्यो नृपश्रीपरिभोगभङ्गस्ततोऽप्यसह्यो वनवासखेदः।
तत्रापि चेद्वां भविता वियोगः सोऽयं क्षते क्षाररजोनिपातः ॥५५॥

एक तो राजलक्ष्मी के परिभोग से वंचित हो, उससे भी असह्य वनवास का कष्ट, वहां भी आप दोनों का होने वाला असह्य वियोग, यह तो जले पर नमक छिड़कना है ॥ ५५ ॥

त्वया विना नैषध भीमजेयं कथं प्रपद्येत पुरीं विदर्भाम्।
न चन्द्रिका चन्द्रमसं विहाय विहायसि द्योतितुमुत्सहेत ॥५६॥

हे नैषध ! आपके बिना यह दमयन्ती विदर्भ नगरी में कैसे रह सकती है ? चन्द्रमा को छोड़ कर चन्द्रिका आकाश में नहीं चमकती ॥ ५६ ॥

स्वदेहयष्टेरुपलालनार्थं कथं नु संत्यक्ष्यति भीमजा त्वाम् ।
को नाम शुक्तेः परिरक्षणाय चिन्तामणिं पादगतं जहाति ॥५७॥

अपने शरीर के पालन के लिए दमयन्ती भला तुम्हें कैसे छोड़ दे ? कौन शुक्ति की रक्षा के लिए पैरों के नीचे आयी हुई चिन्तामणि को छोड़ देता है ॥५७॥

विपद्गतं त्वामपहाय भैमी कथं विदर्भां पुरमभ्युपैतु ।
कासारमुत्सृज्य निदाघतप्तं छायां तरोः किं शफरी प्रयाति ॥५८॥

तुम्हें विपत्तिग्रस्त छोड़कर दमयन्ती कैसे विदर्भनगर चली जाय ? ग्रीष्म से तप्त सरोवर को छोड़ कर क्या मछली पेड़ की छाया में जाती है ॥ ५८ ॥

त्वया नराधीश निराकृतापि न मुञ्चतीयं चरणान्तिकं ते ।
श्रीखण्डभूमीधरमन्तरेण क्व दृश्यतेऽन्यत्र पटीरवल्ली ॥५९॥

तुमसे तिरस्कृत होकर भी यह तुम्हारे चरणों को नहीं छोड़ती । मलयाचल को छोड़ कर अन्यत्र चन्दन को लकड़ी कहां दिखाई पड़ती है ॥ ५९ ॥

तदेषु मास्मद्वचनेषु राजन्ननादरो भूत्सविधेऽस्त्वयं ते ।
विलोकनेनापि परस्परस्य शोकोर्मयो वां मसृणीभवन्तु ॥६०॥

इसलिये हे राजन् ! हमलोगों के वचन का अनादर न हो, यह दमयन्ती आपके साथ ही रहे । कम से कम परस्पर देखकर भी आप लोगों के शोक को लहर कुछ शान्त होगी ॥ ६० ॥

ततो नलः स्वांशुकपल्लवेन संवीज्य बाष्पाम्बुतरङ्गिताक्षः ।
क्रमेण संज्ञामुपजग्मुषीं तामारोपयन्नङ्क इदं बभाषे ॥६१॥

उसके बाद अश्रुपूर्ण नेत्रों वाले राजा नल अपने वस्त्र से ही पंखा झलकर क्रमशः चेतना प्राप्त करती हुई दमयन्ती को गोद में लेकर बोले ॥ ६१ ॥

असह्यमप्यत्र मया यदुक्तं त्वं विद्धि वैदर्भि न मे तदागः ।
इयं तव क्लेशपरम्परैव व्यधत्त मौखर्यमिदं मदीयम् ॥६२॥

हे वैदर्भि ! यहां मैंने जो कुछ असह्य बातें कहीं उसमें मेरा अपराध नहीं है । तुम्हारे कष्टों से मुझमें ऐसी मुखरता उत्पन्न हुई ॥ ६२ ॥

जहासि चेन्नाभिनिवेशमित्थं प्रतिश्रुतं चण्डि तदीप्सितं ते ।
स्वप्नेऽपि नावाभवितुं प्रभुर्मे भीरु त्वदिच्छापरिपन्थिभावः ॥६३॥

हे चण्डि ! तुम इस प्रकार (अपना) आग्रह नहीं छोड़ती हो तो तुम्हारे अभीष्ट का पालन करूंगा । हे भीरु ! मेरे तुम्हारी इच्छा के विरोधीभाव स्वप्न में भी पराभव देने के लिए समर्थ नहीं होंगे ॥ ६३ ॥

कुलानुरागिण्यपि राज्यलक्ष्मीर्निष्कासिता निष्करुणेन येन ।
शठः कथं नाम विधिः स एव मदन्तिकस्थां विसहिष्यते त्वाम् ॥६४॥

जिस निष्ठुर ने कुलानुरागिणी राजलक्ष्मी को भी निष्कासित किया, वही दुष्ट दैव तुम्हें मेरे समीप पाकर कैसे सहन करेगा ॥ ६४ ॥

तथापि निर्बन्धवती यदि त्वं मनोरथस्ते सफलस्तदास्तु ।
अकाण्डचण्डानलनिर्विशेषाः प्रत्यर्थिनः स्युर्यदि नान्तरायाः ॥६५॥

फिर भी तुम यदि हठ कर रही हो तो तुम्हारा मनोरथ सफल हो, यदि दावानल के समान प्रचण्ड विरोधी इसमें बाधा उत्पन्न न करें ॥ ६५ ॥

इत्थं नलस्तामनुशास्य बालामस्ताचलं याति दिनाधिनाथे ।
आसाद्य शीतं गिरिनिर्झराम्बु दिनान्तसंध्यां विधिवद्व्यधत्त ॥६६॥

नल ने इस प्रकार उस बाला को समझा कर सूर्य के अस्ताचल की ओर चले जाने पर पर्वत के शीतल झरने का जल पाकर विधिवत् सायं संध्या सम्पन्न की ॥ ६६ ॥

गुञ्जास्रजः कण्ठतटीजुषोऽपि संगोपयन्ती शवराङ्गनानाम् ।
विजृम्भयन्ती पिशिताशनानामस्रभ्रमं वारिषु निर्मलेषु ॥६७॥
निकृन्ततीवोन्मदसारसानां शिरांसि कासारतटाश्रितानाम् ।
विचूर्णयन्तीव शुकावलीनां चञ्चुः कुलायद्रुमसंमुखीनाम् ॥६८॥
शृङ्गारयन्तीव मतङ्गजानां मुखानि सिन्दूररजोभरेण ।
पाण्डुच्छदानामिव पल्लवौघमुल्लासयन्तीव महीरुहाणाम् ॥६९॥
प्रसूयमानेव जपाप्रसूनैः संवर्धमानेव मुखैः कपीनाम् ।
बालप्रवालप्रतिमप्ररोचिर्दिनान्तसंध्या जगतीमरुद्ध ॥७०॥(कालापकम्)

शवराङ्गनाओं के कण्ठ में लगे हुए भी गुञ्जापुष्प को संकुचित करती हुई निर्मल जल में राक्षसों को रुधिर का भ्रम उत्पन्न करती हुई, सरोवर के तट पर स्थित उन्मत्त सारसों के मस्तक को छिन्न करती हुई अपने घोसलों वाले वृक्ष के सम्मुख शुकावलियों के चञ्चुपुट को जीतती हुई गजराजों के मस्तक को मानों सिन्दूर रज से सजाती हुई, सफेद पत्तों वाली वृक्षों के पल्लव-समूह को उत्कण्ठित करती हुई, जपापुष्पों से मानों (दुपहरिया के फूल) उत्पन्न एवं वन्दरों के मुखों से संवर्द्धित नवीन मूंगे के समान चमकीली दिन के अवसान पर सन्ध्या विश्व में छा गई ॥ ६६-७० ॥

कुञ्जेभ्यः शतशो निपत्य पृषतैराच्छन्नमुर्वीतलं
संध्यासु प्रसृतारुणाभ्रमुडुभिः किर्मीरितं व्योम च ।
काले तत्र दिनक्षपाविरहिते तुल्यामवस्थां गतं
वैदर्भ्यो सह नेत्रयोर्विषयतां निन्ये विशामीश्वरः ॥७१॥

कुञ्जों से लौटकर आये हुए सैकड़ों हिरणों के सोने से पृथ्वी ढंक गई । सन्ध्या

में फैले हुए लाल वर्ण के मेघ से युक्त आकाश तारों से चित्रित हो उठा। दिन एवं रात से रहित समय समान अवस्था को प्राप्त हुआ। मनुष्येश्वर राजा नल वैदर्भी के साथ सोये ॥ ७१ ॥

अथ समजनि संध्या भिद्यमाना तमिस्रै-
र्दरपरिणतजम्बूराजिनीलारुणश्रीः।
अविरलमुदयद्भिस्तारकाचक्रवालैः
सपदि गगनलक्ष्मीश्चित्रितेवोल्ललास ॥७२॥

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये
नल-चरिते वनपरिभ्रमणं नाम नवमः सर्गः।

फटे हुए एवं पके हुए जामुन के समान नील वर्ण की सन्ध्या अन्धकार से आच्छन्न होती हुई प्रकट हुई। उदय होते हुए अविरल तारों के समूह से एका-एक गगनश्री चित्रलिखित के समान शोभित हुई ॥ ७२ ॥

श्री सांधिविग्रहिक, महापात्र श्री कृष्णानन्दविरचित
नलचरित में वनपरिभ्रमण नामक
नवम सर्ग समाप्त हुआ।

दशमः सर्गः

अत्रान्तरे घनतमालनिकुञ्जलीनैर्निष्पीड्यमानमवलोक्य नभस्तमोभिः।
प्राग्वासनावशतया वनवासखेदं विस्मृत्य संभ्रमवतीदमुवाच भैमी॥

इसी बीच घने तमाल-कुञ्जों में फैले हुए अन्धकार से आकाश को परि-व्याप्त देखकर पूर्वसंस्कारवश वनवास के दुःख को भूलकर विभ्रमवती दमयन्ती ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥ १ ॥

सख्यः कथं कथमहो शशिदीर्घिकाभि-
निःसारयन्ति मम केलिनिकेतनानि।
एतानि कोकिलकदम्बमलीमसानि
लुम्पन्तु लोचनपथं परितस्तमांसि ॥ २ ॥

हे सखियो ! क्यों मेरे क्रीडागृहों को शशिदीर्घिकाओं से रहित कर रही हो ? ये कोयल एवं कदम्ब वृक्ष के समान काले अन्धकार चारों तरफ फैल जांय ॥२॥

संपादयन्त्वगुरुधूपपरम्पराभिः
क्रीडागृहाण्यसितकाण्डपटावृतानि।
किं चाम्बरे मणिमयाभरणांशुजालै-
रुज्जृम्भितैर्विरचयन्तु वितानलक्ष्मीम् ॥ ३ ॥

कृष्णवर्ण के पर्दों से ढंके हुए क्रीड़ागृहों को अगुरु-धूप आदि के द्वारा सुगन्धित करें। आकाश में फैले हुए मणिमय चन्दोवा द्वारा शामियाने को सुसज्जित करें ॥ ३ ॥

आच्छादयन्तु रजसा घनसारजेन
केलीसरः परिसरं रभसा वयस्याः।
अस्मिन्भविष्यति यथा शिशिरावदातै-
श्चन्द्रांशुभिः परिचयः पुनरुच्यमानः ॥ ४ ॥

सखियां कपूर-चूर्ण से क्रीडासर के किनारों को पूर्णतः आच्छन्न कर दें। क्योंकि इसमें ठंडे और सफेद चन्द्रकिरणों से कहकर परिचय होगा ॥ ४ ॥

सिञ्चन्तु चन्दनरसैरनुधूपवासं रङ्गाङ्गनानि परितः परिचारयोषाः।
संगीतमङ्गलविधेरवतारणाय सज्जीभवन्तु तरसा निपुणास्तरुण्यः ॥५॥

परिचारिकाएं चन्दन-रस को धूपादि से युक्त रङ्गशाला में छिड़कें। माङ्गलिक सङ्गीतादि के लिए निपुण रमणियां शीघ्र ही तत्पर हो जांय ॥ ५ ॥

इत्थं दिनान्तविधिषु त्वरितां विलोक्य
प्रासादभाजमिव तत्र नरेन्द्रपत्नीम्।
अर्चिर्मिषात्तत इतः स्फुरदोषधीनां
शोकानलं वनभुवः प्रथयांबभूवुः ॥ ६ ॥

इस प्रकार सायङ्कालीन विधियों की शीघ्र सम्पन्नता चाहनेवाली नरेन्द्रपत्नी दमयन्ती का (इस समय) महल में होने के भ्रम को देखकर साथियों ने शोकानल को उदित होते हुए औषधियों के किरणों के व्याज से चारों ओर फैलाया ॥ ६ ॥

इन्दुस्ततोऽन्धतमसाम्बुनिधौ निमग्नं विष्वक्करैः प्रसृमरैर्जगदुज्जहार।
भैम्यास्तथा भ्रममुदीर्णसपाचिकीर्षुस्तां नैषधश्च गिरमित्थमुदाजहार ॥

चन्द्रमा ने तमोरूपी महासागर में डुबे हुए जगत् को अपने चारो ओर फैलानेवाली किरणों से वाहर निकाला, और नल भी दमयन्ती के उस प्रकार के भ्रम को मिटाने के लिए इस प्रकार वोले ॥ ७ ॥

नैसर्गिकं मनसि भैमि निधेहि धैर्य-
मित्थं प्रलापविधुरा पुनरेव मा भूः ॥
आरोपितं श्रुतिपथे विपदाकुलानां
मर्माणि कृन्तति सुखं हि पुरानुभूतम् ॥ ८ ॥

हे दमयन्ति ! मन में स्वाभाविक धैर्य धारण करो इस प्रकार के प्रलाप से पुनः दुखी मत हो। विपत्ति से व्याकुल जनों को पूर्वानुभूत सुखों का श्रवण, मर्म-भेदी पीड़ा देता है ॥८॥

आमोदसंपदिव चन्दनपादपस्य
शाखाकरैर्दिनकृतः परिपीतसारम्।
त्वां देवि दुःखनिवहैरभितप्यमानां
नाद्यापि मुञ्चति कथं ननु वासनेयम् ॥ ९ ॥

जैसे चन्दन वृक्ष की आमोद-सम्पत्ति, जिस का सारतत्व सूर्य की किरणों से पी लिया गया है, उसको नहीं छोड़ती, उसी तरह दुःखों से अभितप्त तुमको आज भी पूर्ववासना क्यों नहीं छोड़ रही है ॥ ९ ॥

अन्तर्दधत्स्फुरदसारकुरङ्गलक्ष्म
विम्बं विधोः स्फुरति वारिणि निर्झरेऽस्मिन्।

मध्ये निवेशितकुरङ्गमदाम्बु मुग्धे
ज्योतीरसाश्मरचितं ननु भाजनं ते ॥१०॥

अपने भीतर मृगचिह्न धारण किए चन्द्रबिम्ब इस झरने के जल में प्रतिबिम्बित हो रहा है। हे मुग्धे ! मानों कस्तूरी जल से पूर्ण ज्योतिरस का लेप किए गए पत्थर से बना तुम्हारा कोई पात्र हो ॥ १० ॥

श्वेतीकृता सितरुचः किरणैरदूरे
संदृश्यते शिखरिणः शिखरस्थलीयम् ।
सायंतनैर्विचकिलैः परितः प्रकीर्णा
नैषा प्रिये नवसुधा तव चन्द्रशाला ॥११॥

चन्द्रमा की किरणों से धवलित पर्वत की जो यह समीपस्थ ही शिखरस्थली दिखाई पड़ रही है, जिसके चारो ओर विचकिल के पुष्प बिखरे हैं, हे प्रिये ! वह कोई नवीन सुधावाली तुम्हारी चन्द्रशाला नहीं है ॥ ११ ॥

एताः पुलिन्दवनिताः प्रतिजातिपल्ली-
राखेटकप्रणयिभिर्दयितैर्नियुक्ताः ।
वीक्ष्य क्षणं समुचितं परिकर्मणस्ते
प्राप्ताः ससंभ्रमपदं न पुनर्वयस्याः ॥१२॥

ये शिकारप्रिय प्रियतम पुरुषों से नियुक्त झोपड़ों में रहनेवाली पुलिन्द (जंगली जाति) की स्त्रियां हैं जो तुम्हारे समुचित साज-शृङ्गार को देख आश्चर्यित हैं, वे तुम्हारी सखियां नहीं हैं ॥ १२ ॥

संगीतसद्मसु विभावितरागभेदं
नोद्गीयते सरभसं तव गीतिकाभिः ।
एष ध्वनिस्तु तलिनोदरि कीचकानां
संमूर्च्छितः श्रवणयोरुपकण्ठमेति ॥१३॥

हे कृशोदरि ! संगीत-भवनों में तुम्हारे गीत विभिन्न रागों में नहीं गाये जा रहे हैं, अपितु यह कीचक (वांसविशेष) की ध्वनि कानों में पहुंच रही है ॥ १३ ॥

आकीर्यते सुमनसां विपिनोद्भवाना-
मामोद एष मदिराक्षि समीरणेन ।
आलीजनैस्तव निषिद्धमधुव्रतानां
क्रीडागृहाङ्गनभुवां न तु मल्लिकानाम् ॥१४॥

हे मदिराक्षि ! बन में होने वाले पुष्पों की गन्ध हवा द्वारा फैल रही है। यह तुम्हारे क्रीड़ागृह के आंगन में लगी हुई, सखियों द्वारा जहां आने से भंवरे रोके गये हैं, ऐसी मल्लिका की गन्ध नहीं है ॥ १४ ॥

इत्थं वचोभिरसकृत्प्रतिपाद्यमानैर्भैमी प्रबोधमुपलभ्य न किंचिदूचे।
सा केवलं किसलयैर्मृदुलैस्तरूणामातस्तरे वसुमतीं शयनाय राज्ञः ॥

इस प्रकार की बातों के बार-बार कहे जाने पर दमयन्ती चेतना प्राप्त कर भी कुछ नहीं बोली। उसने राजा के सोने के लिए वृक्षों के कोमल पत्तों को बिछा दिया ॥ १५ ॥

आपूर्य गर्जितभरेण निकुञ्जगर्भा-
नाविर्भवत्यभिमृगं क्षुधिते तरक्षौ।
सत्त्वं किमेतदिति भीमजयाभिपृष्टः
प्रत्युत्तरार्पणविधौ नृपतिर्जडोऽभूत् ॥१६॥

अपने गर्जन से समस्त कुञ्जों को पूरित करता हुआ मृग की ओर बढ़ता हुआ। भूखे चीता के प्रकट होने पर एवं दमयन्ती के यह पूछने पर कि यह कौन सा जीव है, राजा नल जड़वत् हो गये प्रत्युत्तर न दे सके ॥ १६ ॥

कुर्वत्सु भैरवरवानथ फेरवेषु
प्रादुर्भवत्सु च पुरः पिशिताशनेषु।
कर्णौ च लोचनयुगं च विदर्भजायाः
सव्याजमाशु रुरुधे नृपतिः कराभ्याम् ॥१७॥

गीदड़ों की भयानक आवाज के सुनाई देने पर एवं सामने राक्षसों को देख राजा नल ने शीघ्र ही अपने हाथों से दमयन्ती के आंख एवं कान बन्द कर दिये ॥ १७ ॥

निद्राविघूर्णितदृशः परिमण्डलानि देहैर्विधाय परिपुञ्जितपश्चिमार्धे।
सौहित्यसंभृतमुदः सुषुपुः स्थलीषु रोमन्थमन्थरचलद्वदनाः कुरङ्गाः ॥

निद्रित हिरण अपने सिकुड़े हुए पिछले भाग में शरीर को मोड़ कर, धीरे-धीरे पागुर करने से जिनका शरीर हिल रहा था ऐसे वे (हिरण) सन्तोष से आनन्दित हो कर उस स्थली में सोये ॥ १८ ॥

आलोक्य तन्मिथुनमास्थितदौर्मनस्यं
निश्चित्य निष्फलमिव स्वगुणप्रकर्षम्।
अर्धोपभुक्तमधुभिर्मधुपैः/सहैव
शेफालिकाः सपदि भूमितले निपेतुः ॥१९॥

उन दोनों की पीड़ा देख अपनी उन्नति निष्फल मान आधा मधु पिये भौरों के साथ ही शैफालिका एकाएक भूमि पर गिर पड़ी ॥ १९ ॥

वाचालिताः प्रति मुहुर्वयसां विरावैः
खद्योतराजरुचिभिः कलितप्रदीपाः।

तस्मिन्वने प्रतिभये रजनीमशेषा-
मारक्षकत्वमनयोरभजन्निकुञ्जः ॥२०॥

उस भयानक वन में बार-बार पक्षियों के शब्दों से शब्दायमान एवं जुगुनू की कान्ति से प्रदीपवान कुञ्ज ने रातभर इन दोनों के लिए पहरेदार का काम किया ॥ २० ॥

शून्यं वनोदरमिदं वनितासहायः
क्ष्मावल्लभोऽयमिह नाभ्युचितास्य सेवा ।
इत्थं विचिन्तनपरेव दृशोर्नलस्य
निद्रा निशि क्षणमपि प्रणयं न भेजे ॥२१॥

यह वन सूनसान है, ये पृथ्वीपति भी केवल पत्नी के साथ हैं, इनकी उचित सेवा भी यहाँ नहीं हुई, इस प्रकार सोचती हुई निद्रा, नल की आँखों में क्षण भर के लिए भी स्नेह नहीं कर सकी ॥ २१ ॥

क्लान्तासि काननभुवः परिलङ्घ्य भैमि नेत्रे निमीलय मुहूर्तमुपैतु निद्रा ।
वेत्सि त्वमेव निषधेश्वर यत्किलैषा त्वामेव पूर्वमुपसर्पति मां न जातु ॥

हे भैमि ! जंगली भूमि को पारकर थक गई हो। क्षणभर आँखें बन्द करो, जिससे निद्रा आये। "हे निषधेश्वर तुम तो जानते हो कि यह (निद्रा) पहले तुम्हारे पास ही जाती है मेरे पास नहीं" ॥ २२ ॥

इत्थं तयोः किसलयास्तरणेऽनुवेलमभ्यर्थनं विदधतोरितरेतरस्य ।
दीर्घं प्रजागरमुदीक्षितुमक्षमेव द्रागेव सा परिणतिं रजनी जगाम ॥२३॥

इस प्रकार किसलय के विस्तर पर परस्पर अभ्यर्थना करते हुए उन दोनों के दीर्घ जागरण को मानों देख सकने में असमर्थ, रात्रि शीघ्र समाप्त हो गई ॥२३॥

अत्रान्तरे किसलयास्तरणं विहाय प्रत्यूषकृत्यमखिलं विधिवद्विधाय ।
क्षोणीपतिर्विमनसं वनवासखेदैर्भैमीं विनोदयितुमित्थमुदाजहार ॥२४॥

किसलय के विस्तर को छोड़ प्रातःकालीन सभी कृत्यों को समाप्त कर वनवास के दुःख से पीड़ित दमयन्ती मनोविनोद के लिए इस प्रकार बोले ॥२४॥

आलोकमण्डलनिरस्तघनान्धकारं
दिक्चक्रवालमवलोक्य पतत्रिणोऽमी ।
स्वेच्छाविहारतरलाः परितः प्रयातुं
गच्छन्ति कूजितमिषेण कुलायवृक्षात् ॥२५॥

आलोक-मण्डल द्वारा निरस्त घनान्धकार दिग्मण्डल को देखकर कूजन करते हुए स्वेच्छाविहार करने की इच्छावाले ये पक्षी घोसलेवाले वृक्षों से निकलकर चारों ओर जाने के लिए बाहर आ रहे हैं ॥ २५ ॥

खिन्नानि रात्रिमखिलां विरहज्वरेण
प्रातः परस्परविलोकनलालसानि ।
एतानि चक्रमिथुनानि बिसाङ्कुराग्रं
नास्वादयन्ति न पिबन्ति च निर्झराम्भः ॥२६॥

विरह-ज्वर से सारी रात पीड़ित प्रातः परस्पर देखने की इच्छा से यह चकवा-चकई का जोड़ा न तो कमलनाल के अग्रभाग को चखता है, न झरने का जल ही पीता है ॥१६॥

एतानि सुन्दरि तुषारपृषन्ति भान्ति
भानोः करैरभिनवैररुणीकृतानि ।
गुञ्जाधियाङ्गुलिमुखं विनिवेश्य येषु
वैलक्ष्यमाशु कलयन्ति पुलिन्दयोषाः ॥२७॥

हे सुन्दरि ! सूर्य के बालारुण से अरुणित ये ओस की बूंदें शोभित हो रही हैं। पुलिन्द (जंगली जाति) की स्त्रियां इन्हें गुञ्जापुष्प समझ अंगुलियों के अग्र-भाग से छूकर शीघ्र ही लज्जा का अनुभव करती हैं ॥ १७ ॥

एतेऽधिरुह्य शिखराणि महीरुहाणां
बालातपग्रहणलोलधियो मयूराः ।
प्रालेयबिन्दुजटिलान्परिवर्त्य कण्ठां-
श्चञ्चूपुटैर्विरलयन्ति कलापभारान् ॥२८॥

बालसूर्य को पकड़ने की इच्छा से वृक्षों के शिखर पर चढ़े हुए ये मयूर ओस से सटे हुए पंख को गर्दन घुमा अपने चञ्चुपुटों से अलग-अलग कर रहे हैं ॥ २८ ॥

बालातपे वलितपृष्ठमितः कपीनां
कण्डूयनं विदधतामितरेतरस्य ।
लाङ्गूलयष्टिभिरधः परिलम्बिताभि-
रेताः प्ररोहजटिला इव भान्ति शाखाः ॥२६॥

बालातप की ओर पीठ किये एक दूसरे को खुजलाते हुए बन्दरों की नीचे लटकती हुई पूंछ के द्वारा ये शाखायें मानों जटाओं से युक्त हो शोभित हो रही हैं ॥ २९ ॥

पानाय निर्झरजलान्यशनाय काले
मूलानि कान्यपि फलानि च पादपानाम् ।
पत्त्राणि तल्पविषये दिवसावसाने
तौ दंपती जगृहतुर्विपिनोदरेषु ॥३०॥

उस जंगल के बीच से उस दम्पति ने पीने के लिए झरनों का जल, समय पर खाने के लिए वृक्षों का फल-मूलादिक एवं सायङ्काल विस्तर के लिए पत्तों को ग्रहण किया ॥ ३० ॥

इत्थं तयोर्विदधतोरितरेतरस्य
संभावनैः शिथिलितादशुचोः क्रमेण ।
जग्मुर्दिनानि कतिचित्कुपितः कलिस्तु
नैतावतापि परिपूर्णमनोरथोऽभूत् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार (कार्य) करते हुए पारस्परिक सद्व्यवहार से दुःख की शिथिलता से, शोकरहित उन दोनों के दिन वीतने लगे। कुपित कलिने इससे भी अपने को पूर्ण-मनोरथ नहीं माना ॥ ३१ ॥

शून्यं तडागमिव तोयसमुद्गमेन
वन्ध्यं महीरुहमिव प्रसवोदयेन ।
स्वं मत्सरं कलिरनर्थकमेव मेने
भैमीसखे चरति राजनि काननेऽपि ॥ ३२ ॥

भैमी (दमयन्ती) के साथ वन में राजा के भ्रमण करते रहने पर जलोद्गम से शून्य तालाब के समान बांझ वृक्ष के समान कलि ने अपने अभिमान को निरर्थक समझा ॥ ३२ ॥

स द्वापरेण सुहृदा सह मन्त्रयित्वा
भेजे विहङ्गतनुमञ्चितहेमपक्षम् ।
तस्यानुरूपमपरोऽपि वपुः प्रपेदे
सख्यं हि तुल्यचरितेषु चिरानुबन्धि ॥ ३३ ॥

उसने अपने मित्र द्वापर के साथ मन्त्रणा करके स्वर्ण-निर्मित पंखवाले पक्षी का रूप धारण किया। दूसरे ने भी वैसा ही रूप धारण किया। विचार की समता में मित्रता स्थिर होती है ॥ ३३ ॥

तौ पत्त्रिणौ मरकतेन कृतोत्तमाङ्गौ
काश्मीरजासुपरिकल्पितकण्ठभागौ ।
मुक्ताप्रवालमणिनिर्मितपृष्ठपक्षौ
स्निग्धेन्द्रनीलशकलाङ्कितपुच्छगुच्छौ ॥ ३४ ॥

उन दोनों ने अपने शिर को मरकत से बनाया, कण्ठ प्रदेश में केशर लगाया। पीठ एवं पंख मोती-मूंगे और मणि से बनाया और पूंछ को इन्द्रनील से अङ्कित किया ॥ ३४ ॥

चञ्चूपुटं च कुरुविन्दमयं दधानौ शेषं वपुः कनककर्बुरितं वहन्तौ ।
संचेरतुस्तरुषु लोचनगोचरेषु विश्लेषणाय रसिकौ मिथुनस्य तस्य ॥३५॥

लाल मणि से निर्मित चञ्चुपुट धारण किया। शेष शरीर को सोने से रंग-विरंगे रूप में सजाकर वे दोनों रसिक उस दम्पति को अलग-अलग करने के लिए दिखाई पड़नेवाले वृक्ष के नीचे चरने लगे ॥ ३५ ॥

निस्पन्दलोचनमुदञ्चितकर्णशुक्ति स्तोकावलीढनवपल्लवगर्भितास्यम् ।
तस्थुर्निकुञ्जगहनेषु परिप्लवाङ्गमाकर्ण्य केलिरसितानि तयोः कुरङ्गाः ॥

निश्चल अपने कानों को ऊपर उठा एवं जिनके मुख में थोड़ा चबाया गया नव पल्लव है ऐसे मृग उन दोनों के केलिरस को सुन थरथराते हुए कुञ्ज में ठहरे ॥ ३६ ॥

कौतूहलाद्विहरतोरनयोर्विधूय वेगातिरेकजनितं मरुतोऽपि दर्पम् ।
पक्षप्रभाभिरभितः परिजृम्भिताभिराविर्बभूव गगने सुरकार्मुकश्रीः ॥३७॥

कुतूहलपूर्वक विचरण करते हुए अपने वेगातिरेक से हवा के भी अभिमान को हिला कर चारो ओर फैलती हुई अपने पंख की कान्ति से आकाश में इन्द्र-धनुष की शोभा को उत्पन्न किया ॥ ३७ ॥

उत्पत्य दूरमसकृत्परितो दिनेशं
लक्ष्यं विधाय मणिचित्रपतत्त्रिकान्त्या ।
यद्बिम्बमाविरभवत्तदुदीक्ष्य मेने
व्योमाङ्गनं सपरिवेषमिव क्षितीशः ॥ ३८ ॥

सूर्य के चारो ओर लक्ष्य कर बार-बार दूर तक उड़कर मणिचित्रित पक्षी की कान्ति से जो बिम्ब उत्पन्न हुआ पृथ्वीपति राजा नल ने उसे आकाश का परिधि-सहित आङ्गन समझा ॥ ३८ ॥

आलोक्य रत्नखचितौ सविधे शकुन्तौ
कौतूहलोत्तरलिता महिषी नलस्य ।
नीवारमुष्टिमवकीर्य तयोः पुरस्ता-
दासीदपास्तहृदया विषयान्तरेभ्यः ॥ ३९ ॥

समीप में रत्नखचित पक्षियों को देख कुतूहलपूर्वक राजा नल की धर्मपत्नी दमयन्ती ने उनदोनों के आगे मूठी भर धान छींट कर अन्य विषयों की ओर से ध्यान हटाकर उसी ओर तन्मय हो गयी ॥ ३९ ॥

आपातमात्ररुचिरं परिणामभीमं
पत्त्रिच्छलाद्विरचितं बडिशद्वयं तत् ।
धाता प्रसार्य करुणाविमुखः क्षणेन
क्षोणीपतेर्नयनमीनयुगं जहार ॥ ४० ॥

केवल देखने में सुन्दर किन्तु परिणाम में भयङ्कर पक्षी के छल से ये दो

वडिश हैं (मछली के घातक जीव) जिन्हें निष्ठुर दैव फैलाकर क्षण में ही पृथ्वीपति के आंखरूपी मीन-युगल को हर लिया ॥ ४० ॥

उत्पश्यतः खगयुगं पृथिवीश्वरस्य
वामं विलोचनमधः स्फुरितं व्यधत्त ।
उत्पत्स्यमानमशुभं च शुभं च नूनं
दैवं निवेदयति पुण्यविशेषभाजाम् ॥ ४१ ॥

जैसे ही वे दोनों पक्षी उड़े राजा नल की बांई आंख फड़कने लगी । दैव पुण्यशाली लोगों को आने वाले शुभाशुभों को सूचना दे देता है ॥ ४१ ॥

आप्तेन काञ्चनमयेन विहंगमेन संपादिताभिलषितार्थविशेषकेण ।
मायामये मणिविहंगयुगे च तस्मिश्चेतस्तयोरजनि सान्द्रतरानुरागम् ॥४२॥

स्वर्णमय पक्षी के द्वारा ही अभिलाषा-विशेष (दमयन्ती की प्राप्ति) हुई थी । इसलिए इस मायामय मणिनिर्मित पक्षी के प्रति उन दोनों के हृदय में अधिक अनुराग उत्पन्न हुआ ॥ ४२ ॥

आदर्शयोर्विधुतयोः प्रतिबिम्बितस्य
भानोः प्रभाव्यतिकराविव चञ्चलाङ्गौ ।
व्योम्नि द्रुमेषु सविधेषु मुहुश्चरन्तौ
तौ न ग्रहीतुमवनीतिलकः शशाक ॥ ४३ ॥

हिलते हुए दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य की कान्ति-सम्बन्ध के समान चञ्चल अङ्गवाले आकाश में वृक्षों के समीप में बार-बार चलते हुए उन दोनों पक्षियों को राजा नल पकड़ने में समर्थ नहीं हुए ॥ ४३ ॥

कुत्रापि हस्तविषयत्वमिव प्रपन्नावन्यत्र किंचिदिव दूरमुपेयिवांसौ ।
तौ निन्यतुर्वसुमतीतिलकं सदारं वन्यान्तराण्यपरिभावितसंचराणि ॥

कहीं-कहीं हाथ की पकड़ में आकर, कभी दूर जाकर वे दमयन्ती-सहित राजा नल को पहले न आये हुए निर्जन वनान्तर में ले आये ॥ ४४ ॥

इत्थं प्रतार्य नृपतिं च विदर्भजां च
संपन्नकल्पमवधारयतोः स्वमर्थम् ।
एकस्तयोर्बलभिदः ककुभं प्रपेदे
प्राचेतसीं दिशमगादपरः पतत्री ॥ ४५ ॥

इस प्रकार, राजा एवं दमयन्ती को छल कर अपने प्रयोजन को सफल होता हुआ देख एक पक्षी पूरब की ओर गया दूसरा वरुण को दिशा (पश्चिम) की ओर गया ॥ ४५ ॥

अथ मणिमयपत्त्रे पक्षिणि न्यस्तनेत्रा
कियदपि दमयन्ती दूरमुल्लङ्घ्य खिन्ना ।

कचिदपि तरुमूले विश्रमार्थं निषण्णा
दयितमनवलोक्य प्राप संभ्रान्तिमन्तः ॥ ४६ ॥

मणिमय पंखवाले पक्षी पर आंख लगाये कुछ दूरी तय कर खिन्न, किसी वृक्ष के नीचे विश्राम के लिए बैठी हुई दमयन्ती अपने प्रिय नल को न देख अन्त में व्याकुल हो उठी ॥ ४६ ॥

तस्मिन्मायाविहंगे नयनविषयतः क्षिप्रमन्तर्दधाने
वैदर्भीजीवितेशस्तदनुगमनजं खेदमाशङ्क्य मोघम् ।
विष्वग्व्यापार्य नेत्रद्वयमथ सविधे प्रेयसीं तामपश्य-
न्मेने चिन्तानिमग्नः सपदि निजवपुर्जीवितेनैव शून्यम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये
नल-चरिते दमयन्ती-विप्रलम्भो नाम दशमः सर्गः ।

उस माया-खग के शीघ्र ही नेत्रों से ओझल हो जाने पर, दमयन्तीपति नल उसके पीछे दौड़ने से उत्पन्न खेद को निरर्थक समझ अपनी आँखों को चारो ओर फैलाकर समीप में दमयन्ती को न देख चिन्ता-निमग्न उन्होंने अपने शरीर को ही निष्प्राण माना ॥ ४७ ॥

श्री सांधिविग्रहिक, महापात्र श्री कृष्णानन्दविरचित सहृदयानन्द
महाकाव्य के नलचरित में दमयन्ती विप्रलम्भ-नामक
दशम सर्ग समाप्त हुआ ।

एकादशः सर्गः

अथ सा पथि खेदनिःसहा दमयन्ती चलितुं न चक्षमे ।
प्रियमीक्षितुमिच्छती परं प्रजिघायाशु दृशं दिशो दश ॥ १ ॥

असह्य वेदना से पीड़ित दमयन्ती मार्ग पर चल न सकी । वह अपने प्रिय की दर्शनेच्छा से दशों दिशाओं की ओर देख रही थी ॥ १ ॥

अधुनैव समेष्यति प्रभुर्मणिचित्रं परिगृह्य पत्त्रिणम् ।
स हि मद्विरहेण दुःसहं क्षणमात्रं मनुते समाशतम् ॥ २ ॥

शीघ्र ही मणिरचित पक्षी को पकड़कर प्रभु लौटेंगे । मुझसे वियुक्त होकर वे क्षणमात्र को सौ वर्ष मानते होंगे ॥ २ ॥

इति तत्र नरेन्द्रनन्दिनी हृदि निश्चित्य भृशं न विव्यथे ।
न विवेद तथातिनिष्ठुरं परिणामं हतधातुरात्मनि ॥ ३ ॥

इस प्रकार मन में निश्चयकर दमयन्ती अधिक दुखी नहीं हुई । वह दुष्ट विधि के कठोर परिणाम को न जान सकी ॥ ३ ॥

निषधाधिपतिस्तु सत्वरं परितः प्रेरितदृष्टिराकुलः ।
परिमार्गयितुं प्रचक्रमे वनराजीषु नरेन्द्रनन्दिनीम् ॥ ४ ॥

राजा नल ने शीघ्र ही चारो ओर आकुल दृष्टि से देखते हुए, वन-वृक्षों में दमयन्ती को ढूढ़ना प्रारम्भ किया ॥ ४ ॥

किमियं पुरतः प्रयाति मे शकुनेस्तस्य विलोकनेच्छया ।
अथवा स्तनभारपीडिता नितरां पृष्ठत एव तिष्ठति ॥ ५ ॥

क्या वह उस पक्षी को देखने की इच्छा से मेरे आगे-आगे जा रही है, अथवा स्तनों के भार के कारण पीछे हो रह गयी है ॥ ५ ॥

यदि वा परिगृह्य तं खगं क्वचन क्रीडति मत्प्रतीक्षया ।
इति चेतसि चिन्तयंश्चिरं न विनिश्चेतुमभूदलं नलः ॥ ६ ॥

अथवा उस पक्षी को पकड़ कर कहीं उसके साथ खेल तो नहीं रही है, इस प्रकार मन में विचार करते हुए नल कुछ निश्चय करने में समर्थ नहीं हुए ॥ ६ ॥

गगने चरतः पतत्त्रिणः स्पृहया यद्दयितामहारयम् ।
किमतोऽप्यधिकं प्रथिष्यते हतभाग्यस्य नलस्य दुर्यशः ॥ ७ ॥

आकाश में उड़ते हुए पक्षी की अभिलाषा से जो मैं पत्नी को गँवा बैठा, इससे अधिक अभागे नल का दुर्यश और क्या कहा जायगा ॥ ७ ॥

क नु तां विचिनोमि शाखिनां विटपैर्दृष्टिपथोऽपि मे हृतः ।
पदपङ्क्तिरपीह नेक्ष्यते तृणगूढासु वनान्तभूमिषु ॥ ८ ॥

मैं उसे कहां ढूँढूँ ? वृक्षों की डालियों से तो दृष्टिपथ ही अवरुद्ध हो गया । सघन घासवाली इस वनभूमि पर पैरों की छाप भी नहीं है ॥ ८ ॥

इह केन पथाहमागतः क पुनः संप्रति गन्तुमुत्सुकः ।
इति वेदितुमप्यकोविदः कथमेनां मृगये मृगेक्षणाम् ॥ ९ ॥

मैं किस मार्ग से इधर आया और अब मुझे किधर जाना है ? यह भी मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, फिर मैं उस मृगनयनी को किधर ढूढू ॥ ९ ॥

मृगयापरिशीलिनोऽप्यलं यदि संमोहवतीह मे मतिः ।
वनवर्त्मनि तत्कथं नु सा विनिवृत्योटजमागमिष्यति ॥ १० ॥

जब शिकार खेलने वाले मुझ जैसे व्यक्ति की भी बुद्धि भ्रमित हो रही है तब जंगली मार्ग से लौटकर कैसे वह झोपड़ी की ओर लौट सकेगी ॥१०॥

पशवः प्रतिवक्तुमक्षमास्तरवोऽमी सुतरामचेतनाः ।
कथयिष्यति हन्त कोऽत्र मे पदवीं तां दयिता यया ययौ ॥ ११ ॥

पशु बोलने में असमर्थ हैं, वृक्ष तो अचेतन ही हैं तब फिर कौन मुझे उस मार्ग को बता सकेगा जिस से मेरी पत्नी गयी है ॥ ११ ॥

इह चेत्परिपालयामि तामपथज्ञा कथमेष्यति स्वयम् ।
यदि यामि यदृच्छया कचित्कथमेषा नयनातिथिर्भवेत् ॥ १२ ॥

यदि मैं यहीं बैठकर प्रतीक्षा करूँ तो मार्ग न जाननेवाली वह स्वयं यहाँ कैसे आ सकेगी ॥ १२ ॥

इति तत्र वनोदरे नलः प्रबलश्वासविधूसराधरः ।
सुचिरं परिचिन्तयन्नपि प्रतिपेदे न विधेयनिश्चयम् ॥ १३ ॥

उस बन में प्रबल श्वास से विवर्ण अधरवाले नल देर तक अच्छी तरह विचार कर भी कर्तव्य का निश्चय न कर सके ॥ १३ ॥

अथ निर्झरशीकरस्पृशा पवमानेन मृदूकृतश्रमा ।
अवलम्ब्य लताः शनैः शनैर्विचरन्तीदमुवाच भीमजा ॥ १४ ॥

झरने के जल-कणों से युक्त ठण्ढी हवा से जिसका श्रम कुछ कम हो गया है, ऐसी दमयन्ती धीरे-धीरे लता पकड़कर घूमती हुई इस प्रकार बोली ॥१४॥

परिगृह्य पतत्रिणावुभौ त्वमसीति प्रतिपन्नमेव मे ।
अनयोः कथमेकमप्यहो दमयन्त्यै ननु न प्रयच्छसि ॥ १५ ॥

दोनों पक्षियों को पकड़ कर तुम तो मेरे पास ही हो दमयन्ती को तुम इनमें से एक भी नहीं दे रहे हो ॥ १५ ॥

पुर एव नरेन्द्र दृश्यसे विनिगूढार्धवपुर्लतान्तरे।
इह दृग्विषये स्थितोऽपि मे प्रतिवाचं न कथं प्रयच्छसि ॥ १६ ॥

तुम तो सामने ही लता में आधे छिपे हुए दिखाई देरहे हो। दिखाई देते हुए भी तुम प्रश्नोत्तर क्यों नहीं देते ॥ १६ ॥

अलमेभिरकाण्डकौतुकैस्तरुमूलेऽत्र निषीद नैषध।
चरणौ पथि खेदनिःसहौ तव संवाहयितुं समुत्सहे ॥ १७ ॥

असमय में इस प्रकार का परिहास रहने दो। इस वृक्ष के नीचे बैठो। रास्ते में थके हुए तुम्हारे चरणों को दबाना चाहती हूँ ॥ १७ ॥

रजसा परिधूसरीकृतं तुहिनेनेव वपुः सुधानिधेः।
परिमार्ष्टुमनाः शनैः प्रभो वदनं तावकमेष मे करः ॥ १८ ॥

धूल से तुम्हारी शरीर उसी प्रकार धूमिल हो गई है जैसे कुहासे से चन्द्रमा। तुम्हारे शरीर को साफ करने के लिए यह हाथ प्रस्तुत है ॥ १८ ॥

रविरम्बरमध्यमाश्रितः क्रमशस्ते वलितक्लमं वपुः।
इदमम्बु गृहाण शीतलं नलिनीपत्त्रपुटे मयाऽऽहृतम् ॥ १६ ॥

सूर्य आकाश के बीच में आ गया, तुम्हारा शरीर भी थक गया है। कमलिनी के पत्ते में लाये गये शीतल जल को ग्रहण करो ॥ १६ ॥

अधिकुञ्जमिदं शिलातलं शिशिरं निर्झरवारिशीकरैः।
इह ते श्रमशान्तये मया शयनीयं नवपल्लवैः कृतम् ॥ २० ॥

कुञ्ज के बीच की यह शिला झरने के जल-कणों से शीतल है। तुम्हारा श्रम दूर करने के लिए मैंने नवीन पल्लवों से उस पर विस्तर बिछाया है ॥२०॥

परिहासकुतूहलेन मां यतसे त्रासयितुं कियच्चिरम्।
ननु वञ्चनयानया कथं दयिता सा सभया भविष्यति ॥ २१ ॥

अब और कितनी देर तक तुम अपने इस परिहास से पीड़ित करना चाहते हो? तुम्हारी इस प्रकार की वञ्चना से क्या तुम्हारी वह दयिता भयभीत हो जायगी ॥ २१ ॥

यदि वाऽन्यवधूचितं भयं नृपते त्वन्महिषीमपि स्पृशेत्।
अवधारय लोकवीर तद्भविता तेन विलज्यतेऽत्र कः ॥ २२ ॥

अन्य स्त्रियों की तरह ही यदि तुम्हारी महारानी को भी भय स्पर्श कर सका, तो हे लोकवीर समझ लो कि वैसा होने पर कौन लज्जित होगा ॥ २२ ॥

इति तत्र गिरः पदेपदे निगदन्ती विपिनं विगाह्य तत्।
क्वचिदप्यविलोक्य वल्लभं दमयन्ती विललाप विक्लवा ॥ २३ ॥

पद-पद पर इस प्रकार कहती हुई उस बन में खोजती हुई, पति को कहीं भी न पाकर अधीर हो विलाप करने लगी ॥ २३ ॥

विपिने चरतोः पतत्रिणोरपराधः कतमः कृतो मया ।
यदिमौ नितरां प्रतार्य मां दयितं मे तिरयांबभूवतुः ॥ २४ ॥

वन में इन पक्षियों के पीछे चल कर मैंने कौन सा अपराध किया, जिससे इन दोनों ने मुझे अच्छी तरह ठग कर मेरे पति को छिपा दिया ॥ २४ ॥

अपि सप्तसमुद्रमुद्रिता वसुधा यस्य भुजेन रक्षिता ।
वनवाससखीमपि प्रियां स कथं रक्षितुमक्षमायते ॥ २५ ॥

जिसकी भुजा से सातो समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी रक्षित थी वही आज वनवास की अपनी प्रियसखी की रक्षा करने में क्यों असमर्थ हो रहा है ॥ २५ ॥

कृतवानसि नाथ सांप्रतं हतभाग्यामिह मां यदत्यजः ।
असवस्तु नितान्तनिष्कृपाः प्रतिमुञ्चन्ति न मामकं वपुः ॥ २६ ॥

हे नाथ ! आपने मुझ हतभागिनी को त्याग दिया, किन्तु ये निष्ठुर प्राण मेरा शरीर नहीं छोड़ रहे हैं ॥ २६ ॥

महतीह विपन्मयेऽम्बुधौ तरिरासीत्त्वदुपासनैव मे ।
विधिनाद्य वियोजिता तया विनिमग्नास्मि वने निराश्रया ॥ २७ ॥

इस विपत्ति के महासागर में भी तुम्हारी सेवा ही मेरे लिए नौका के समान थी किन्तु विधाता के द्वारा उसे भी छीन लिये जाने पर निराश्रित आज मैं इस वन में घूम रही हूँ ॥ २७ ॥

इह मां त्वदधीनजीवितां कथमुत्सृज्य गतोऽसि नैषध ।
करुणापि पणीकृता ध्रुवं नृपलक्ष्मीरिव दीव्यता त्वया ॥ २८ ॥

हे नैषध ! जिस का जीवन तुम्हारे ऊपर आश्रित है ऐसी मुझे छोड़ कर तुम कैसे चले गये ? पासा फेंकते हुए तुम्हारे द्वारा राजलक्ष्मी की तरह करुणा भी दाव पर लगादी गई ॥ २८ ॥

अपि वीक्षितुमक्षमा परैस्त्वदभिन्नैव पुरा विदर्भजा ।
फणिना त्वगिव त्वयोज्झिता शिशुनाप्यद्य पराभविष्यते ॥ २९ ॥

पहले जब दमयन्ती तुम्हारे साथ थी तो दूसरों के द्वारा देखा जाना भी उसे (दमयन्ती को) सह्य नहीं था। किन्तु आज वह तुम से सांप से केंचुल के समान अलग कर दी गई ॥ २९ ॥

इह धन्यतमा परं मही क्वचिदास्ते सहितैव या त्वया ।
भवता रहिता दमस्वसा नृपलक्ष्मीश्च गताद्य शोच्यताम् ॥ ३० ॥

आज तो वह पृथ्वी ही परम धन्य है जो कहीं भी तुम्हारे साथ है। दमयन्ती एवं राजलक्ष्मी आज आप से अलग होकर शोचनीयावस्था को प्राप्त हुई हैं ॥ ३० ॥

वसुधे विदधामि तेऽञ्जलिं न सपत्नीति रुषं कुरुष्व मे।
कथय प्रभुरङ्घ्रिमुद्रया भवती यत्र तनोत्यलंकृताम् ॥ ३१ ॥

हे वसुन्धरे ! मैं तुम्हें हाथ जोड़ रहो हूं, तुम मुझे सपत्नी समझ कर रोष न करो। तुम मुझे उस स्थान को बता दो जहां तुम प्रभु के चरणों की छाप से सौन्दर्य बिखेर रही हो ॥ ३१ ॥

अविषह्यविपाकजृम्भितं दमयन्त्या किल दुष्कृतं कृतम्।
अपि काननवासविक्लवं दयितं सा परिहाय जीवति ॥ ३२ ॥

दमयन्ती ने निश्चय हा असहनीय फल-दानोन्मुख पाप किया है, जो वह वनवास से दुखी प्रिय को छोड़ कर भी जी रही है ॥ ३२ ॥

अयि पाणिपरिग्रहेण मां गमयित्वा सुखिनीषु मुख्यताम्।
कथमाशु तपस्विनीष्वपि प्रथमोदाहरणत्वमानयः ॥ ३३ ॥

मेरा पाणि-ग्रहण कर मुझे सुखी जनों में सब से अधिक सुखी बना कर कैसे मुझे तपस्विनियों में भी प्रथम उदाहरणीय बना दिया ॥ ३३ ॥

सुकृतं दुरितं च भूपते मम लोकोत्तरमेव दृश्यते।
यदहं दयिता तवाभवं परिमुक्ता च वने यतस्त्वया ॥ ३४ ॥

हे भूपति ! मेरे पुण्य एवं पाप असाधारण मालूम होते हैं क्योंकि एक दिन में तुम्हारी पत्नी बनी और फिर तुम्हारे द्वारा ही वन में छोड़ दी गई ॥३४॥

हृदयं मम निर्ममे विधिः कुलिशेनेति मया विनिश्चितम्।
यदिदं शतधा न भिद्यते दयित त्वद्विरहाग्नितापितम् ॥ ३५ ॥

ब्रह्मा ने निश्चय ही मेरे हृदय को वज्र से बनाया है, जो यह तुम्हारे विरह-जन्य अग्नि से तपकर भी चूर-चूर नहीं हो जाता ॥ ३५ ॥

परलोकजुषोऽपि वल्लभाननुगच्छन्ति कुलोद्भवाः स्त्रियः।
हृदयेश्वरसन्तिके स्थितं सदतेऽन्या कतमा विहास्यति ॥ ३६ ॥

कुलीन स्त्रियां पर-लोक गये हुए भी पतियों का अनुगमन करती हैं। किन्तु समीपवर्ती हृदयेश्वर को मुझे छोड़ दूसरी कौन स्त्री त्याग देगी ॥ ३६ ॥

मम पाणिपरिग्रहः परं समभूत्ते विपदां निबन्धनम्।
ग्रसते खलु सिंहिकासुतस्तपनं दर्शतिथेः समागमे ॥ ३७ ॥

मेरा पाणिग्रहण तुम्हारी विपत्तियों का कारण बना, राहु सूर्य को अमावस्या तिथि के साथ सम्बन्ध होने पर ही ग्रसता है ॥ ३७ ॥

जगतीमखिलां स्वतेजसा सुखयित्वा खलु तिग्मदीधिते।
चरमाद्रिदरीमिवाद्य मां कथमासाद्य गतोऽस्यदृश्यताम् ॥ ३८ ॥

सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने तेज से सुख पहुंचा कर क्या तुम सूर्य के अस्ताचल के समान मुझे पाकर अदृश्य हो गये हो ॥ ३८ ॥

अथ सा नयनाम्बुवीचिभिः प्रसृताभिर्विनिगूढसंचरा।
पुनरेव नरेन्द्रनन्दिनी परितस्तद्विचचार काननम् ॥ ३९ ॥

वहती हुई अश्रुधारा से अवरुद्ध गमनवाली नरेन्द्र की पत्नी दमयन्ती पुनः उस वन के चारो ओर घूम आई ॥ ३९ ॥

इतरेतरयुद्धसंभ्रमैर्महिषैः क्वापि विकूर्दितक्षितिः।
विटपैरवनीरुहां क्वचिद् गजभग्नैः प्रतिरुद्धपद्धतिः ॥ ४० ॥

कहीं-कहीं भैसों के लड़ने से पृथ्वी खन डाली गई थी, कहीं हाथियों द्वारा तोड़े गये वृक्षों की डालियों से मार्ग अवरुद्ध था ॥ ४० ॥

असमग्रविशीर्णफेरवं जरठेनाजगरेण कुत्रचित्।
क्षुधितेन तरक्षुणा क्वचित्प्रसभं क्रान्तकुरङ्गशावकम् ॥ ४१ ॥

कहीं बूढ़े अजगर से पूरा न खाया गया गीदड़ था, कहीं भूखे भालू के द्वारा बलपूर्वक हिरण के बच्चे पकड़ लिये गये हैं ॥ ४१ ॥

क्षुभितर्क्षमुखोज्झितैरपां पृषतैः क्वापि विकीर्णकुज्झटिः।
दवपावकधूममण्डलैः क्वचिदाविष्कृतमेघडम्बरम् ॥ ४२ ॥

रीछ के मुख से गिरते हुए जल की बूंदों से कहीं कुहासा सा फैल रहा था। दवाग्नि के धुआं से ऐसा लगता था मानों बादल ही चारो ओर छाये हैं ॥४२॥

मृगराजचपेटताडितैः करिभिः क्वापि विमुक्तचीत्कृतिः।
धरणीविवरार्धनिर्गतैः फणिनिर्मोकचयैश्चितं पदम् ॥ ४३ ॥

सिंहों से प्रताड़ित हाथी कहीं चीत्कार कर रहे थे, पृथ्वी के बिल से आधे निकले हुए साँपों के केंचुल इकट्ठे थे ॥ ४३ ॥

इति तत्र भयंकरे वने न भयं प्राप भृशं विदर्भजा।
हृदये नवशोकविक्लवे नहि भावान्तरमर्पयेत्पदम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार उस भयानक वन में दमयन्ती भय-भीत नहीं हुई। नवीन शोक से विह्वल हृदय में दूसरे भाव जल्दी प्रविष्ट नहीं होते ॥ ४४ ॥

अनिशं प्रियदर्शनेच्छया विचरन्तीं परिखेदिनीमपि।
सदया इव विश्रमाय तां रुरुधुः काननवीरुधः क्वचित् ॥ ४५ ॥

प्रिय के दर्शन की अभिलाषा से निरन्तर घूमती हुई उस पीड़ित दमयन्ती को दयावश विश्राम करने के लिए वन की लताओं ने कहीं-कहीं रोक दिया ॥ ४५ ॥

कृतकेशचयग्रहा क्वचित्क्वचिदाकृष्टनिचोलपल्लवा।
क्व च दुर्ललितस्तनान्तरा कुटिलैः काननकुञ्जकण्टकैः ॥ ४६ ॥

वन-कुञ्जों के कुटिल कांटे कहीं बाल पकड़ते, कहीं पल्लव के घूंघट को खींचते, कहीं स्तनों के बीच में प्रविष्ट हो जाते ॥ ४६ ॥

पृषतीभिरिवोपशिक्षिता वनराजीश्चरितुं निरन्तराः।
भ्रमितुं धरणीभृतां दरीर्भुजगानामिव शिष्यतां गता ॥ ४७ ॥

वन में निरन्तर भ्रमण करने के लिए हिरणियों से शिक्षा लेने के बाद पर्वतों की गुफाओं में घूमने के लिए सर्पों की शिष्यता स्वीकार की ॥ ४७ ॥

अवगाहितुमद्रिनिम्नगाः शफरीणामिव सख्यमाश्रिता।
जलदाम्बुहिमातपग्रहे प्रतिपन्नेव लतासु बन्धुताम् ॥ ४८ ॥

पर्वतीय नदियों में प्रवेश के लिए उसने मछलियों से मैत्री की। वर्षा का जल, शीत एवं गर्मी सहन करने की क्षमता के लिए मानों उसने लताओं से मित्रता की ॥ ४८ ॥

फणिभिश्चरणाग्रपीडनादधिगुल्फं वलयत्वमागतैः।
प्रतिमुक्तपदाङ्गदेव सा विलपन्ती व्यचरत्क्वचित्क्वचित् ॥ ४९ ॥
विशेषकम्।

चरणाग्र से पीड़ित होने से पैर के गुल्फ तक लिपटे हुए सर्पों के द्वारा ही मानों उसने पैरों में पहना जाने वाला झांझ धारण किया है। ऐसी दमयन्ती विलाप करती हुई इधर-उधर घूम रही थी ॥ ४९ ॥

अथ भीमसुतां शठो विधिर्विचरन्तीं विपिने यदृच्छया।
महताजगरेण कुत्रचित्प्रतिरुद्धे पथि संन्ययोजयत् ॥ ५० ॥

दुष्ट विधाता ने वन में भटकती हुई दमयन्ती को बहुत बड़े अजगर से अवरुद्ध मार्ग में ला दिया ॥ ५० ॥

द्रवतामपसार्य वेधसा कठिनत्वं यमुनेव लम्भिता।
नभसः स्खलितेव कालिका तनुरेतस्य तया व्यलोक्यत ॥ ५१ ॥

ब्रह्मा से तरलता दूर कर कठिन कर दी गई यमुना के, एवं आकाश से गिरे मेघमण्डल के समान अजगर के शरीर को दमयन्ती ने देखा ॥ ५१ ॥

अतिदीर्घतया वनेचरैरसमग्रेक्षितभोगवैभवम्।
महिषौघविषाणतामितैः सुदृढैरप्यकृतव्रता क्वचित् ॥ ५२ ॥

अत्यधिक विशालता के कारण उसका विशाल फन वनेचरों से भी पूरा दिखाई नहीं दे रहा था। भैंसों की तीक्ष्ण एवं मजबूत सींगों से भी उस पर कोई असर नहीं हो रहा था ॥ ५२ ॥

धरणेरधिपृष्ठमाचितं रचितं सेतुमिवासितोपलैः।
समुपाश्रितपार्श्वभित्तिकं शयनागारधिया करेणुभिः ॥ ५३ ॥

भूमिपृष्ठ पर विस्तृत काले पत्थरों से बनाये गये पुल के समान बना हुआ तथा हाथी शयनागार समझ जिसके समीप की दीवाल के पास बैठे हैं ॥ ५३ ॥

उदरे दरभिन्नकञ्चुके परितश्छिद्रसितैर्निरन्तरे।
वृकशल्लकिजम्बुकैश्चिरं सकुटुम्बैर्गमितं निवासताम् ॥ ५४ ॥

जिसके कुछ भाग केचुल से रहित तथा चारो ओर सफेद छिद्रों से युक्त पेट के पास बाघ, साही, गीदड़ आदि सकुटुम्ब निवास कर रहे हैं ॥ ५४ ॥

अवलोकयति स्म केवलं पृथुदीर्घाङ्गमुखं विदर्भजा ।
भुजगत्वममुष्य सा पुनर्न विवेदान्तिकमप्युपागता ॥ ५५ ॥

दमयन्ती केवल उसके बड़े मुख को देख रही थी उसके समीप आकर भी वह यह न अनुभव कर सकी कि यह सर्प है ॥ ५५ ॥

विधिना निधनाय देहिनां विहितं यन्त्रमिवातिदारुणम् ।
सहसा यमसद्मयायिनां विवृतं द्वारमिवार्गलोज्झितम् ॥ ५६ ॥

मनुष्यों की मृत्यु के लिए विधाता ने एक बड़ा भयानक यन्त्र बनाया है। सहसा यमपुर पहुँचानेवाला उसका उन्मुक्त द्वार फैल गया ॥ ५६ ॥

विगलद्गरलान्धकारितं पवमानग्रहणाय जृम्भितम् ।
अवनीधरकन्दरभ्रमा दमयन्ती प्रविवेश तन्मुखम् ॥ ५७ ॥

हवा लेने के लिए विष एवं अन्धकार से भरे हुए उसने अपने मुख को फैलाया। पर्वत की कन्दरा समझ दमयन्ती उसके मुख मे प्रवेश कर गई ॥५७॥

अथ मृगयुभिरेकः काल्यमानः कुरङ्गः
प्रतिपदमनुयद्भिस्त्रासितः सारमेयैः ।
इषुविहतविशीर्णैः शोणितैः कीर्णवर्त्मा
पृथुनि वदनरन्ध्रे प्राविशत्पन्नगस्य ॥ ५८ ॥

किसी शिकारी द्वारा पीछा किया जाता हुआ एवं पीछे-पीछे पीछा करने वाले कुत्तों से भयभीत कोई मृग बाण लगने से बहते हुए खून से रास्ते को रंगता हुआ उस विशाल सर्प के वदन में प्रवेश कर गया ॥ ५८ ॥

तदनु शोणितबिन्दुभिरङ्किताननुसृताः सरणिं हरिणस्य ते ।
कलितकर्णशराः सशरासनाः सरभसं शबराः शतशोऽभ्ययुः ॥ ५९ ॥

इसके बाद रक्त-चिह्नित मृग के मार्ग का अनुसरण करते हुए बाणासन में में सैकड़ों वनेचर कान तक बाण खींचे हुए वहां आये ॥ ५९ ॥

हा नाथ कुत्र गतवानसि मां विहाय
भूयः करिष्यसि कदा नयनोत्सवं मे ।
इत्थं गिरः प्रतिपदं प्रतिपादयन्ती
भैमी चचार भुजगस्य मुखान्तरेऽपि ॥ ६० ॥

हे नाथ ! मुझे छोड़ कर आप कहां चले गये ? कब पुनः आपका दर्शन मुझे होगा ? इस प्रकार बोलती हुई दमयन्ती उस सर्प के मुख में घूम रही थी ॥६०॥

समन्ताद् भ्राम्यन्ती पृथुलमुरगस्यास्यविवरं
न यावद्वैदर्भी समभजत कण्ठान्तिकमपि ।
किराताः पीनत्वादविचलतनुं तावदपि तं
द्विधा मध्ये चक्रुस्तरुमिव निशातैः परशुभिः ॥ ६१ ॥

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ
सहृदयानन्दे महाकाव्ये नल-चरिते
दमयन्ती-विलापो नामैकादशः सर्गः ।

उस विशाल सर्प के मुख-विवर में घूमती हुई (सर्प के) कण्ठ तक दमयन्ती के पहुँचने के पहले ही किरातों ने शरीर की विशालता के कारण चलने में असमर्थ उस सर्प को तेज फरसे से वृक्ष के समान बीच से काट दिया ॥ ६१ ॥

श्री सांधिविग्रहिक महापात्र श्री कृष्णानन्द कृत सहृदयानन्द
महाकाव्य के नलचरित में दमयन्ती-विलाप नामक
एकादश सर्ग समाप्त हुआ ।

द्वादशः सर्गः

तदनु ते भुजगस्य मुखे स्थितां किमपि लक्ष्यतनुं सहजश्रिया ।
प्रतनुनीलघनान्तरचारिणीं ददृशुरिन्दुकलामिव सुन्दरीम् ॥ १ ॥

(किरातों ने उस सर्प के मुख में स्थित सहज सौन्दर्य से लक्षित उस सुन्दरी को नील मेघ के बीच घूमती हुई चन्द्रकला के समान देखा ॥ १ ॥

समपकृष्य ततस्तलिनोदरीं गरलदाहवशाद् गतचेतनाम् ।
व्यपगतासुमिव प्रतिपद्य तां मृगयवोऽपि विषादमुपाययुः ॥ २ ॥

विष की ज्वाला से मूच्छित उस कृशोदरी को बाहर निकाल कर उसे प्राण-हीन समझ सभी दुखी हुए ॥ २ ॥

शिशिरनिर्झरशीकरसेचनैः प्रतिमुहुर्विहितैरपि संभ्रमात् ।
चिरतरं रचितैरपि यत्नतः शिखिशिखण्डकदम्बकवीजनैः ॥ ३ ॥

बार-बार ठंढे झरने के जल के छींटे से मयूर-पुच्छ-समूहरूपी पंखा के झलने से ॥ ३ ॥

अपि च मन्त्रपदैर्विषहारिभिः शशिमुखीमनुपागतचेतनाम् ।
समपहाय यथागतमेव ते प्रतिययुर्मृगबन्धनलालसाः ॥ ४ ॥

विषहरण करनेवाले मन्त्रों के पाठ से भी जब उस शशिमुखी को चेतना न आयी तो मृग पकड़ने की लालसा से वे जैसे आये थे वैसे ही चले गये ॥ ४ ॥

तदनु कोऽपि तपोनिधिराययौ स्थलमिदं समिदाहरणोत्सुकः ।
समवलोकत तां पृथिवीपतेः प्रणयिनीं पतितामवनीतले ॥ ५ ॥

इसी बीच कोई तपस्वी लकड़ी लेने की इच्छा से उधर आया और उसने पृथ्वी पर गिरी हुई महाराज की प्राणवल्लभा को देखा ॥ ५ ॥

यदि परासुरियं वपुषः श्रिया रुचिरया न कथं परिहीयते ।
श्वसिति वा न कथं यदि निद्रया निबिडया परिमुद्रितलोचना ॥ ६ ॥

यदि इस के प्राण निकल गये हैं तो इस का शरीर-सौन्दर्य मुरझा क्यों नहीं जाता ? यदि गहरी नींद के कारण आँखें बन्द हैं तो फिर यह सांस क्यों नहीं ले रही है ॥ ६ ॥

वपुरिदं भुवनत्रयमोहनं सुहृदिदं मदनस्य नवं वयः ।
किमुत घोरतरे विपिनान्तरे निपतितेयमितस्तलिनोदरी ॥ ७ ॥

तीनों लोकों को लुभानेवाला यह सौन्दर्य है, कामदेव की सहचरी नवीन अवस्था है। फिर क्यों यह कृशोदरी इस भयानक वन में पड़ी हुई है ? ॥ ७ ॥

यदि तु मोहयितुं यमिनां मनः सुरवधूः प्रहिता हरिणा दिवः।
विरहिता ललितैः स्मरविभ्रमैरियमुपैति दशां कथमीदृशीम् ॥ ८ ॥

यदि तपस्वियों के मन को वश में करने के लिए स्वर्गस्थ इन्द्र के द्वारा भेजी गयी कोई सुरवधू है तो फिर काम की विविध ललित चेष्टाओं से रहित यह इस अवस्था को कैसे प्राप्त हुई ॥ ८ ॥

अपहृता कुटिलैः क्षणदाचरैस्त्रिदिवतो यदि कापि सुराङ्गना।
न खलु तैर्मिलिताकृतिरीदृशी व्यपगतासुरपीह विमुच्यते ॥ ९ ॥

यदि कुटिल राक्षसों के द्वारा हरी गई यह कोई सुराङ्गना है तो निष्प्राण भी ऐसी आकृति को वे छोड़ते नहीं ॥ ९ ॥

पुररिपोर्नयनार्चिषि भस्मतां गतवतो दयितस्य शुचाकुला।
त्रिषु जगत्सु परिभ्रमणश्रमाद्भुवमियं पतिता स्मरवल्लभा ॥ १० ॥

शङ्कर के तृतीय नेत्र से भस्मीभूत प्रिय के लिए शोकाकुल कामदेव की पत्नी रति तीनों लोकों के भ्रमण से थक कर यहां पृथ्वी पर गिर पड़ी है। १०॥

नहि नहि द्युसदा करुणावशात्पुनरवाप्तवता रुचिरं वपुः।
प्रणयिना सह सा भुवनत्रये विहरतीति वदन्ति पुराविदः ॥ ११ ॥

नहीं-नहीं करुणा के कारण देवताओं के द्वारा पुनः शरीर प्राप्त करनेवाले काम के साथ वह रति तीनों लोकों में घूमती फिर रही है, ऐसा पुराने लोग कहते हैं ॥ ११ ॥

इति वितर्कशतं परिवर्तयन्नपि न तां स मुनिर्निरधारयत्।
क्रमवशाद्विशदैरथ लक्षणैः किमपि विश्वसितं समभावयत् ॥ १२ ॥

इस प्रकार सैकड़ों प्रकार से तर्क-वितर्क करते हुए ऋषि कुछ निश्चय न कर सके। फिर धीरे-धीरे कुछ विशद लक्षणों से उन्होंने विश्वासपूर्वक कुछ सम्भावना की ॥ १२ ॥

कृतरुषा कलिना हृतसंपदा तत इतश्चरता विपिनोदरे।
विरहितां दयितेन नलेन तां विषधरस्य विषेण विचेतनाम् ॥ १३ ॥

क्रुद्ध कलि के द्वारा हरी गई है सम्पत्ति जिस की ऐसे प्रिय नल से वियुक्त होकर इस वन में घूमती हुई किसी सर्प के विष से यह मूर्च्छित हो गई है ॥१३॥

समधिगम्य समाधिबलान्मुनिर्मनसि खेदमवाप मुहुर्मुहुः।
परगतामपि दुःखपरम्परां कृतधियो हि निजामिव मन्वते ॥ १४ ॥

समाधि के बल से यह सब जानकर मुनि मन ही मन बहुत दुखी हुए। सज्जन परगत पीड़ा को आत्मगत के समान मानते हैं ॥ १४ ॥

पुनरवेक्ष्य तथा पतितां भुवि प्रियतमां महिषीं निषधेशितुः।
विधिमपास्तकृपं परिभर्त्सयन्मुनिरिदं मनसा समचिन्तयत् ॥ १५ ॥

निषधराज की पत्नी महारानी दमयन्ती को पृथ्वी पर पड़ी हुई देख कर, निष्ठुर विधाता की भर्त्सना करते हुए मुनि ने इस प्रकार विचार किया ॥ १५ ॥

विपदि भग्नमवेक्ष्य जनं जनः प्रभुरपि प्रतिकर्तुमनुद्यतः।
कुमतिराशु करोति मलीमसं निजकुलं यशसापि समुज्ज्वलम् ॥ १६ ॥

इस विपत्ति में पड़ी हुई दमयन्ती को देखकर भी लोकपालक राजा नल ने कोई प्रतीकार नहीं किया कुमति शीघ्र ही यश से समुज्ज्वल कुल को भी गर्हित बना डालती है ॥ १६ ॥

तपसि राज्यसुखेऽपि समाहिते विविधविघ्नकृतां विनिवारणैः।
नृपतयो मुनयश्च परस्परं विनिमयेन भजन्त्युपकारिताम् ॥ १७ ॥

तप एवं राज्य-सुख में आये हुए विघ्नों का निवारण राजा एवं मुनि परस्पर सहयोग के द्वारा किया करते हैं ॥ १७ ॥

इति विचिन्त्य मुनिर्नृपतेः प्रियामभिषिषेच जलैरभिमन्त्रितैः।
तदनु चेतनया च शुचा च सा युगपदेव बभूव समन्विता ॥ १८ ॥

इस प्रकार विचार कर मुनि ने मन्त्रयुक्त जल राजा की पत्नी पर छींटा। इस के बाद ही चेतना एवं शोक से साथ ही साथ युक्त हुई ॥ १८ ॥

चरणयोः प्रणतां स विदर्भजां समभिनन्द्य तपोनिधिराशिषा।
विगलदश्रुतरङ्गितलोचनामिदमुवाच सुधामधुरं वचः ॥ १९ ॥

चरणों पर गिरकर प्रणाम करती हुई दमयन्ती को ऋषि ने अपने आशीर्वाद से अभिनन्दित कर अश्रुसिक्त आखोंवाली दमयन्ती से इस प्रकार अमृतवाणी बोले ॥ १९ ॥

अयि कुरुष्व कृशोदरि मा शुचं विधिरभूत्करुणासुमुखस्त्वयि।
विचरतोऽपि वने हि यदृच्छया त्वमसि यन्मम दृक्पथमागता ॥२०॥

हे कृशोदरि ! शोक मत करो। विधाता ने तुम पर यह दया ही की जो तुम वन में स्वच्छन्द घूमते हुए मुझे दिखाई पड़ गई ॥ २० ॥

त्वमसि यस्य तनूदरि वल्लभा वनमिदं च यथागतवत्यसि।
समधिगम्य समाधिबलादिदं मम मनः सुतरां परिदूयते ॥ २१ ॥

तुम जिस की पत्नी हो एवं जिस कारण से यहां आई हो यह सब समाधि के बल से जानकर मेरा मन अत्यन्त खिन्न हो रहा है ॥ २१ ॥

तदिह मेऽस्ति तपश्चिरसंचितं किमपि तेन नलः सुलभोऽस्तु ते।
क्षितिमिमां च समुद्धृतकण्टकां समनुशास्तु चिरं मुदितस्त्वया ॥२२॥

मेरे तप के प्रभाव से नल तुम्हें सुलभ हो जांय। तुम्हारे साथ निष्कण्टक इस पृथ्वी का आनन्दित हो शासन करें ॥ २२ ॥

अनुपलब्धपदं विविधैर्भयैः सुलभमूलफलं विमलोदकम्।
क्लमभृतां क्लमभेदनमाश्रमं समवलोकय मामकमग्रतः ॥ २३ ॥

विविध प्रकार के भय से रहित फल-मूल एवं निर्मल जल जहां सुलभ हैं, एवं थके हुए व्यक्तियों के श्रम को दूर करने वाले मेरे आश्रम को आगे हो चलकर देख लो ॥ २३ ॥

इह दिनानि कियन्त्यपि विश्रमं विदधतीं भवतीमवनीन्द्रजे।
सकरुणैर्मुनिभिः कृतशासनाः परिचरन्तु तपोनिधिकन्यकाः ॥ २४ ॥

कितने दिनों से जिसने विश्राम नहीं किया है ऐसी तुम्हारी उचित सेवा दयालुमुनियों से शोसित मुनि-कन्यायें करें ॥ २४ ॥

इति मुनेर्वचसापि नृपात्मजा न हृदयं विदधे किल विश्रमे।
सुखिनि दुःखिनि वा दयिते दशां तदुचितामनुयान्ति पतिव्रताः ॥२५॥

इस प्रकार मुनि की वाणी से भी दमयन्ती के हृदय का बोझ कम नहीं हुआ। प्रिय की सुख अथवा दुःख की दशा में पतिव्रतायें भी वैसी ही अवस्था को प्राप्त होती हैं ॥ २५ ॥

अवितथं परिचिन्त्य वचो मुनेर्निजमवेत्य च भाग्यविपर्ययम्।
किमपि कन्दलितां दलितां पुनर्निजमनोरथसिद्धिममंस्त सा ॥ २६ ॥

मुनि की वाणी को सत्य मान एवं अपना भाग्य विपरीत समझ उसने अपनी मनोरथसिद्धि को पुनः प्रस्फुटित होती हुई माना ॥ २६ ॥

अथ मुनिं प्रणिपत्य विदर्भजा विदधती विपिनेषु विगाहनम्।
पथिषु यद्यदवैक्षत विक्लवा सपदि तत्तदुपेत्य जगाद सा ॥ २७ ॥

मुनि को प्रणाम कर उस वन में घूमती हुई पीड़ित दमयन्ती मार्ग में जो कुछ भी देखती उससे कहने लगती ॥ २७ ॥

स्थगयति त्रिदिवं शिखरोन्नतिर्धरणिमावृणुते परिणाहिता।
स्पृशति मूलमधोभुवनं ततः किमपि नाविदितं त्रिजगत्सु ते ॥ २८ ॥

(हे वृक्ष) तुम्हारी शिखरोन्नति स्वर्ग को स्थगित कर देती है। विशालता समस्त पृथ्वी को ढंक देती हैं, तुम्हारी जड़ पाताल को स्पर्श करती है। अतः तीनों लोकों में तुमसे अविदित कुछ भी नहीं ॥ २८ ॥

स्थिरतया स्थितिहेतुतया भुवः प्रथितवंशतयोन्नतिमत्तया।
अमितसत्त्वतयाप्यनुयासि यं क्षितिधरेन्द्र वद क्व स नैषधः॥ २९॥

स्थिरता, भूमण्डल की स्थिति-हेतुता, प्रख्यात वंश-उच्चता तथा अतुल पराक्रम से जिसका तुम अनुसरण करते हो वह नरेन्द्र नल कहाँ है? हे पर्वतराज बताओ॥ २९॥

अपि मनःशिलया घटितं गिरे तव वपुर्विषमं कठिनं च यत्।
विफलमेव करिष्यसि तन्मम प्रियतमस्य निवेदनमीप्सितम्॥ ३०॥

हे पर्वत! मैंनसिल लगाने से तुम्हारा शरीर भी कठोर हो गया है तो क्या प्रिय के लिए किए गये मेरे निवेदन को ठुकरा दोगे॥ ३०॥

यदपि मामवलोक्य गिरेस्तटा-
दिहसमागमवत्यसि निम्नगे।
तदपि सेत्स्यति मे त्वयि नेप्सितं
न खलु वाक्पटुतास्ति जडात्मनाम्॥ ३१॥

हे निम्नगे! मुझे देखकर गिरितट से यहाँ आई हो, फिर भी मेरी प्रिय अभिलाषा तुमसे सिद्ध न हो सकेगी? जड़ात्माओं में वाक्पटुता नहीं होती॥३१॥

गिरितटादिह संप्रति निम्नगे ध्रुवमुपागतवत्यसि मत्कृते।
तदपि मे कथयिष्यसि न प्रियं प्रकृतिवक्रगते करुणा कुतः॥ ३२॥

हे सरिते! निश्चय ही मेरे लिये तुम गिरितट से इस समय यहां आई हो, फिर भी मुझे कोई प्रिय बात नहीं सुनाओगी, क्योंकि तुम तो स्वभाव से ही कुटिल ही टेढ़े-मेढ़े रास्ते से चलने वाली हो फिर तुम्हें करुणा कहां॥ ३२॥

अयि मृगेन्द्र निवेदय मे प्रभुं नलनृपं कुरु मां जठरेऽथवा।
सपदि वा यदि वा जननान्तरे परिचरामि पुनर्निषधेश्वरम्॥ ३३॥

हे मृगेन्द्र! मेरे प्रभु राजा नल को बताओ अथवा मुझे ही उदरस्थ कर लो। जिससे या तो अभी या दूसरे जन्म में मैं उस नल के साथ रह सकूं॥ ३३॥

हरिणि मां दयितं परिपृच्छतीमपि कथं प्रतिवच्मि न किंचन।
ध्रुवमिमं मृगयासु कृतागसं स्मरसि तेन मनः कलुषं तव॥ ३४॥

हे हिरण! पूछती हुई मुझे तुम प्रत्युत्तर क्यों नहीं देती? क्या तुम शिकार खेलते समय किये गये (नल के) अपराध को स्मरण कर रही हो? अतः तुम्हारा मन कलुषित है॥ ३४॥

जनपदेषु विहृत्य विहंगमानुपगतान्निशि पृच्छत मे पतिम्।
यदि न ते कथयन्ति तदाशु तान्विटपतो विनिपातयत द्रुमाः॥ ३५॥

गांव-गांव घूम कर लौटकर आये हुए पक्षियों से मेरे पति के बारे में रात

को पूछना। यदि वे न बतायें तो हे वृक्ष, शीघ्र ही तुम उन्हें अपनी शाखाओं से गिरा देना ॥ ३५ ॥

त्वमनुरागसमृद्धिमिमां परं वहसि कीर मुखे न तु चेतसि।
परुषवागपि नोत्सहसे यतः स्फुटमुदन्तमुदीरयितुं प्रभोः ॥ ३६ ॥

हे शुक! तुम केवल मुख में राग (श्लेष से लालिमा) धारण करते हो हृदय में नहीं। क्योंकि कठोरवाणी होने पर भी प्रभु के समाचार को स्पष्ट कह नहीं पा रहे हो ॥ ३६ ॥

इति प्रलापानसकृद्वितन्वती विगाह्य शैलांश्च वनोदराणि च।
दिनावसाने कृतविश्रमं क्वचिद्ददर्श सार्थं वणिजां विदर्भजा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार प्रलाप करती हुई पर्वत एवं जङ्गलों को पार कर सायङ्काल में दमयन्ती ने व्यापारियों की विश्रान्त टोली देखी ॥ ३७ ॥

जनतां विलोक्य सुचिरेण तत्र सा नयने निवेश्य दयितेक्षणाशया।
अविदूर एव तरुभिस्तिरोहिता निषसाद भीमतनयावनीतले ॥३८॥

वहाँ वहुत से लोगों को देख कर देर तक वह प्रिय की आशा से उन्हें निहारती रही। वृक्षों से छिप कर वह दमयन्ती उन के समीप ही पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥ ३८ ॥

अथास्तसंस्थे मृदुधाम्नि भानौ निरन्तरे तत्र वने निकुञ्जे।
अदृष्टपारस्तिमिराम्बुराशिर्वेलामतिक्रम्य समुज्जजृम्भे ॥ ३९ ॥

सूर्य के अस्ताचल पर चले जाने पर उस निकुञ्ज एवं वन में गहन अन्धकार फैल गया ॥ ३९ ॥

आलोकसंपत्तिरुवास तुङ्गे चकार निम्ने पदमन्धकारः।
परस्परस्पर्धितया तदानीमकारि ताभ्यां जगतो विभागः ॥ ४० ॥

प्रकाश शिखर पर था। नीचे अन्धकार फैल गया। उन दोनों ने परस्पर स्पर्धा से जग को विभक्त कर डाला ॥ ४० ॥

दरीषु येषामवनीधराणां लब्धोदयस्तानपि जग्रसे यत्।
तेनैव कृत्स्नं चरितं खलानां गाढोऽन्धकारस्तुलयांबभूव ॥४१॥

जिन पर्वतों की गुफाओं में अन्धकार उत्पन्न हुआ उसी को उसने ग्रस लिया। इसी से दुष्टों के समग्र चरित्र की तुलना गहन अन्धकार करता है ॥४१॥

रन्ध्रेषु प्रथमं प्रविश्य तदनु प्राप्य स्थलीषु स्थितिं
छिद्राण्याशु तिरोदधत्कवलयत्तुङ्गांस्ततः क्ष्माभृतः।
विष्वक्प्रौढतमं तमो जगदिदं स्मर्तव्यतां प्रापयद्
व्याचक्रे चरितं युगान्तसमयोद्वेलस्य वारांनिधेः ॥ ४२ ॥

पहले छिद्रों में प्रवेश कर फिर वन-भूमि में फैल कर शीघ्र ही छिद्रों को एवं पर्वतों के उत्तुङ्ग शिखर को तिरोहित कर चारो ओर फैला हुआ गहन अन्धकार इस विश्व को रमणीय बनाता हुआ प्रलयकालीन समुद्र-सा व्यवहार कर रहा है ॥ ४२ ॥

विधिरतनुत सृष्टिं दृष्टिशून्यां किमन्यां
न्यरचयदथवैनां रूपसंपत्तिहीनाम् ।
इति जगति विवेक्तुं कोविदः कोऽपि नासी-
दलिकुलमलिनाभैरुन्मिषद्भिस्तमोभि ॥ ४३ ॥

विधाता ने इस सृष्टि को दृष्टिरहित बनाया है, अथवा इस सृष्टि को रूप-संपत्ति से हीन बनाया है। इस संसार में कोई भी विद्वान् भंवरों के समान मलिन अन्धकार के कारण इसे पहचानने में समर्थ नहीं था ॥ ४३ ॥

भूयोभूयो वर्त्मसंबाधखेदाद्भेजे निद्रां दुःसहः पान्थसार्थः ।
शोकोर्मीभिर्बाध्यमानानुवेलं निर्निद्रासीत्केवलं राजपत्नी ॥ ४४ ॥

बार-बार मार्ग की बाधाओं के कारण पथिकों का दल गाढ़ी नींद में सो गया। किन्तु शोक की लहरों से पुनः बाधित महारानी निन्द्राशून्य थीं ॥ ४४ ॥

नीलाम्भोरुहिणीकलिन्दतनयातोयप्रसूनैरिव
स्वैरङ्गैर्मलिनैस्तदन्धतमसं संम्लापयन्ती भृशम् ।
उत्क्षिप्तैः क्षितिरेणुभिः कलुषतां संप्रापयन्ती नभः
स्पर्शेनारुजती तरून्करिघटा वात्येव तत्राययौ ॥ ४५ ॥

यमुना के जल में उत्पन्न फूल के समान अपने मलिन अङ्गों से घने अन्धकार को और मलिन बनाती हुई, उड़ाई गई धूल से आकाश को कलुषित करती हुई, स्पर्श मात्र से वृक्षों को उखाड़ती हुई, हाथियों की घटा तूफान के समान वहां आई ॥ ४५ ॥

अभ्यर्णे कुलमवलोक्य कुञ्जराणां
क्रोशन्त्यामसकृदपि क्षितीन्द्रपत्न्याम् ।
अध्वन्याः कतिपय एव बोधमापु-
र्दुर्वारं विधिविहितं हि देहभाजाम् ॥ ४६ ॥

समीप में ही हाथियों के समूह को देख कर बार-बार दमयन्ती के चिल्लाने पर भी कुछ ही पथिक जग सके। शरीरधारियों के लिए विधिविधान दुर्वार ही है ॥ ४६ ॥

असंयमितमूर्धजानविशदस्वरान्निद्रया
स्खलच्चरणपल्लवान्विकृतवेषमुत्तिष्ठतः ।

विलोक्य पथिकानिभाः सभयरोषमुज्जृम्भितै-
र्व्यधुः सपदि चीत्कृतैः क्षुभितसत्त्वमाराद्वनम् ॥ ४७ ॥

निद्रावश बाल बिखरे हुए, धीरे-धीरे बोलनेवाले लड़खड़ाते हुए एवं विकृत वेश धारण किये पथिकों को देख कर हाथी ने समय क्रोधावेग से चीत्कार के द्वारा समीपवर्ती वन के जीवों को भयभीत कर दिया ॥ ४७ ॥

अध्वक्लान्त्या निःसहाङ्गं प्रसुप्तास्ते वैदर्भ्या सत्वरं बोध्यमानाः ।
धात्रा यत्नेनाशु संप्रेर्यमाणैर्निद्रां दीर्घां प्रापिताः केऽपि नागैः ॥ ४८ ॥

असहाय मार्ग की थकावट से सोये हुए दमयन्ती के द्वारा शीघ्र ही जगाये जाने पर भी विधाता के द्वारा भेजे गये हाथियों के द्वारा महानिद्रा को प्राप्त हुए ॥ ४८ ॥

रोषोत्सेकवशादुरांसि चरणैराक्रम्य केषामपि
प्रोच्छिद्याग्रकरे शिरांसि करिणो दूरं समुच्चिक्षिपुः ।
शाखासंधिषु लग्नकेशनिचयैरस्रच्छटाभिप्लुतै-
र्यैरासन्परिणामिभिः फलभरैः पूर्णा इवोर्वीरुहः ॥४९॥

क्रोध की अधिकता से हाथियों ने किसी के हृदय पर चरणों से प्रहार कर उनके मस्तक को सूँड़ के अग्रभाग पर रख दूर फेंक दिया ॥ ४९ ॥

पान्थाः केचिद्दलितवपुषः कुञ्जराणां विषाणै-
रस्रोद्गारं सपदि मुमुचुर्जीवितैः सार्धमेव ।
भूयो भूयः सरभसपदाक्रान्तिभिश्चूर्णपेषं
निष्पिष्टाङ्गाः कतिचिदपरे भेजिरे पेचकत्वम् ॥ ५० ॥

हाथियों के दाँतों से छिन्न-भिन्न शरीरवाले कुछ पथिकों ने जीवन के साथ ही खून की धारा को छोड़ा, बार बार क्रोधपूर्वक चरणों के प्रहार से कुचले गये शरीरवाले कुछ लोग पूँछ के समान बना डाले गये ॥ ५० ॥

निद्रयाथ तमसा च विक्लवाः केचिदन्धितदृशः पदे पदे ।
क्वापि विश्रमपदं न भेजिरे कुब्जकुञ्जरविचेतनाक्षमाः ॥ ५१ ॥

नींद एवं अन्धकार से पीड़ित अन्धे के समान पग-पग पर लड़खड़ाते हुए कुब्ज एवं हाथी में भेद कर सकने में असमर्थ, कहीं भी विश्राम न पा सके ॥५१॥

छिन्नार्धाङ्गान्पल्लवैः पादपानामुत्तुङ्गानामग्रशाखासु लीनान् ।
त्रासान्मौनं संश्रितानध्यगच्छन्निश्चित्यान्ये वानरा वा नरा वा ॥५२॥

ऊंचे वृक्षों के पत्तों से ढंके हुए, ऊंची शाखाओं पर कटे हुए अर्धाङ्गवाले, भय से मौन धारण करने वालों को, ये वानर हैं अथवा मनुष्य, यह भी भेद करना कठिन था ॥ ५२ ॥

इत्थं तत्पथिककुलं प्रमथ्य यूथे नागानां गतवति ये हतावशिष्टाः।
प्रातस्ते विपदि तथा कृतोपकारां वैदर्भीं प्रणतिभिरर्चयांवभूवुः॥

इस प्रकार उस पथिक कुल का मर्दन कर हाथियों के चले जाने पर जो मरने से बचे थे उन लोगों ने विपत्ति में उपकार करने वाली दमयन्ती को नत-मस्तक हो अर्चना की॥ ५३॥

अथ सुचिरमसौ परिभ्रमन्ती वनभुवि कान्तमवीक्ष्य खिद्यमाना।
पथि पथि पथिकाननुप्रयान्ती पुरमविशत्पृथिवीपतेः सुबाहोः॥

इस प्रकार अधिक दिनों तक वन में घूमती हुई प्रिय को न देख दुखी रास्ते-रास्ते पर पथिकों के पीछे चलती हुई सुबाहु राजा की राजधानी में पहुँची॥५४॥

अथ तत्र पुरे परिभ्रमन्तीं जननी प्राप्तदया नृपस्य तस्य।
शुभलक्षणलक्षितानुभावां तनयां स्वामिव पालयांवभूव॥ ५५॥

उस राजा की माता ने दयार्द्र होकर उस नगर में घूमती हुई शुभलक्षणों वाली दमयन्ती का अपनी पुत्री के समान पालन किया॥ ५५॥

अथ चरैर्विनिवेदितलक्षणां विरहवेदनया विधुरां सुताम्।
द्रुतमुपेत्य विदर्भमहीपतिर्गमयति स्म निकेतनमात्मनः॥ ५६॥

विदर्भ नरेश शीघ्र आकर दूतों के द्वारा जिसका लक्षण बताया गया था, ऐसी विरह-वेदना से पीड़ित अपनी पुत्री को अपने घर ले गये॥ ५६॥

लावण्यमात्रपरिशिष्टवपुः प्रयत्नात्
तुष्टापि सा विरहिता निषधेश्वरेण।
अन्त्या कलेव शशिनस्तिमिरं समग्रं
शोकं पितुः शमयितुं क्षमतां न भेजे॥ ५७॥

जिसके शरीर का केवल सौन्दर्यमात्र अवशिष्ट था, ऐसी वह कुछ तुष्ट होती हुई भी नल से वियुक्त रहने से चन्द्रमा की अन्तिम कला के समान पिता के सारे शोकान्धकार को दूर न कर सकी॥ ५७॥

अन्वेषणाय निषधाधिपतेः समन्ताद्
दूतान्प्रतीतवचसः प्रजिघाय भीमः।
भैमी तु तस्य भवने स्वजनैर्वृतापि
बन्दीव बाष्पकलुषा दिवसाननैषीत्॥ ५८॥

नल को खोजने के लिए भीम ने चारों ओर विश्वसनीय दूत भेजे। परिजनों से घिरी हुई भी वह दमयन्ती उस भवन में बन्दिनी के समान आंसू बहाती हुई दिन बिता रही थी॥ ५८॥

चिरं चरन्नपि विपिने न विव्यथे
विदर्भजां सविधगतां विलोकयन्।
तया पुनर्विरहमवाप्य जीवितं
क्षणार्धमप्यमनुत निष्फलं नलः ॥ ५९ ॥

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये नलचरिते वैदर्भीविदर्भानुप्रवेशो नाम द्वादशः सर्गः।

साथ में दमयन्ती को देखते हुए वन में चिर काल तक घूमने पर भी दुखी नहीं हुए, किन्तु उसके विरह में नल ने अपने जीवन को क्षणार्द्ध के लिए भी निष्फल माना ॥ ५९ ॥

श्री सांधिविग्रहिक महापात्र श्री कृष्णानन्द कृत सहृदयानन्द महाकाव्य में नलचरित में वैदर्भी का "विदर्भानुप्रवेश" नामक बारहवां सर्ग समाप्त हुआ।

त्रयोदशः सर्गः

अथ चेतसि शोकवेगभाजि स्थगिते दृष्टियुगे च बाष्पपूरैः।
श्रुतवानपि नैषधश्चिराय प्रतिपेदे करणीयमूढभावम् ॥ १ ॥

चित्त के शोक-विह्वल होने पर एवं अश्रुपूर्ण आंखों से दिखाई न पड़ने पर शास्त्रज्ञ नल भी किंकर्तव्यविमूढ़ से होगये ॥ १ ॥

बहु तत्र विलप्य बाष्पवारां पृषतैर्निष्पतितैर्वनस्थलीषु।
नवमेघजलाभिषेकतः प्रागपि सौरभ्यमुदैरयन्नरेन्द्रः ॥ २ ॥

वहाँ बहुत तरह से विलाप कर उस वनस्थली में गिरते हुए अश्रुजल से राजा नल ने नवीन मेघ के जलाभिषेक से पहले ही सुगन्ध बिखेर दी ॥ २ ॥

अथ तत्र कदापि वाति वाते रविरश्मिप्रकरैः प्रकामतप्ते।
उदभूद्विपिने मिथस्तरूणां विटपाघट्टनसंभवः कृशानुः ॥ ३ ॥

वहाँ किसी समय हवा के चलने पर रवि-किरणों के तपने पर वृक्षों की रगड़ से उस वन में आग लग गई ॥ ३ ॥

अनतिप्रसृतेऽभितः कृशानौ गगनाग्रस्पृशि धूमचक्रवाले।
ननृतुः क्षणमुन्मदाः सकेकं नवमेघोदयशङ्किनो मयूराः ॥ ४ ॥

अभी आग के पूर्णतः न फैलने पर उठते हुए गगनस्पर्शी धुंएं से क्षण भर प्रसन्न हो मोर नवीन मेघ का उदय समझ नाचने लगे ॥ ४ ॥

विटपानवनीरुहां कृशानोः स्पृशतीष्वग्रशिखासु लोहितासु।
सुरभेरुदयं विनापि वन्या परितः पुष्पितकिंशुकेव रेजे ॥ ५ ॥

अग्नि के द्वारा वृक्षों की डालियों के स्पर्श करने से उनके अग्रभाग लाल हो उठे। वसन्तागमन के पूर्व ही वनस्थली मानो पुष्पित पलाक्षवृक्ष से सुशोभित हो उठी ॥ ५ ॥

कुसुमान्यपहाय पादपानां भ्रमरैर्धूमसमाकुलैः पतद्भिः।
तरसैव शिखाङ्कुराः कृशानोरसकृन्निर्गलदञ्जना इवासन् ॥ ६ ॥

वृक्षों के पुष्पों को छोड़कर धुएँ से व्याकुल भंवरों के गिरने से अग्निशिखाओं के अग्रभाग वेग से मानों अंजन बरसा रहे थे ॥ ६ ॥

लिलिहुर्विरला मुखैश्चकोराः पततोऽङ्गेषु समन्ततः स्फुलिङ्गान्।
अपरे त्वभिपत्य संहतास्तान् कृतरोषा इव भस्मसाद्वितेनुः ॥ ७ ॥

शरीर पर चारों ओर गिरते हुए अंगारों में से चकोर कुछ ही निगल सके। बाकी अंगारों ने गिरकर मानो क्रुद्ध होकर भस्मसात् कर दिया ॥ ७ ॥

रुरुधुर्गगनं शिखाः कृशानोरुपरि व्याततसान्द्रधूमसंघाः।
अवलीढघनानि काञ्चनाद्रेः शिखराणि द्युतिभिर्विडम्बयन्त्यः ॥ ८ ॥

अग्नि की शिखा दूर आकाश में उठ रही थी। उसके चारो ओर धुएं फैल रहे थे। यह दृश्य मेघ-युक्त स्वर्ण शैल के शिखर की शोभा को मात कर रहा था ॥ ८ ॥

अपहाय कुलायकुञ्जगर्भान्पततामुत्पततां दिधक्षयेव।
सह धूमचरैर्विजृम्भमाणा सपदि व्योम ललङ्घिरे दवोल्काः ॥ ९ ॥

पक्षियों के घोसलों को छोड़कर गिरते उड़ते हुए उनको जलाने की इच्छा से दवाग्नि शीघ्र ही धूम रूपी चर के साथ आकाश में फैल गई ॥ ९ ॥

भृशमाकुलतामुपेत्य धूमैर्विविशुः क्ष्माधरकंदरेषु सिंहाः।
अपि तेषु हविर्भुजि प्रविष्टे पुटपाकं झटिति प्रपेदिरे ते ॥ १० ॥

धुएं से व्याकुल हो कर सिंह पर्वत की गुफाओं में घुस गये। किन्तु जब आग उस में घुस गई तो पुटपाक बन गये ॥ १० ॥

विवरैरुपसृत्य कंदरायां ज्वलति ज्वालिनि तत्र चित्रभानौ।
घनधूममये महान्धकारे गिरिरुल्कामुखवद्व्यलोकि कैश्चित् ॥ ११ ॥

उस आग में छिद्रों से पर्वत की कन्दराओं में लगी ज्वाला-बहुल आग के जलने पर सघन धुएं के अन्धकार में वह पर्वत उल्कामुख के समान प्रतीत हो रहा था ॥ ११ ॥

चमरान्परिधावतः समन्ताद्वनवीथीषु नितान्तमार्तिभाजः।
सरलायतचामरप्रसङ्गाननुधावन्निव पावकश्चकाशे ॥ १२ ॥

उस वनवीथी में पीड़ित चमरी मृग के चारो ओर दौड़ते रहने पर ऐसा मालूम हो रहा था जैसे आग उनका पीछा कर रही है ॥ १२ ॥

अपि तीर्णवतां रयातिरेकाद्वनराजिः परितः प्रदह्यमाना।
परिणाहिषु चामरेषु लग्ना चमराणामनलः सुदुस्तरोऽभूत् ॥ १३ ॥

पार करने वालों के वेगातिरेक से चारो ओर जलती हुई वनावली चमर मृगों के लम्बायमान पुच्छाग्र में लगने पर आग और भी भयङ्कर हो गई ॥१३॥

परितः पवनेन कीर्यमाणान्क्षपयन्तः करशीकरैः स्फुलिङ्गान्।
अभितापभृतोऽपि वारणेन्द्राः क्षणमासन्वनचारिणां शरण्याः ॥ १४ ॥

चारो ओर हवा से फैले हुए अङ्गारों को अपने सूंड़ों के जलकण से शान्त

करते हुए ताप सहन करते हुए भी गजराजों ने क्षण भर के लिए वनचारियों को शरण दी ॥ १४ ॥

सहसा द्रवणाद्क्षमांस्तनूजांश्चरणैः स्वैः परिवार्य गोपयन्त्यः ।
पृषतीः परिमन्थरं व्रजन्तीः सह तैरेव ददाह कृष्णवर्त्मा ॥ १५ ॥

ताप सहन करने में असमर्थ अपने बच्चों को अपने चरणों से घेर कर छिपाती हुई एवं मन्थर गति से चलती हुई पृषती मृग को अग्नि ने उन बच्चों के साथ ही जला डाला ॥ १५ ॥

अधिभूधरसानु विद्रुतानां परितः शल्लकिनां शरीरलग्नः ।
प्रतिशल्लकशेखरं प्रसर्पन्नपि सप्तार्चिरसंख्यकार्चिरासीत् ॥ १६ ॥

पर्वत के शिखरों पर चढ़े हुए शल्लकी के शरीर में चारो ओर लगी हुई आग उन के मस्तकों की ओर बढ़ती हुई नाम से सप्तार्चि भी असंख्य लपटों से युक्त हो गई ॥ १६ ॥

निजपल्लवभक्षणापराधं परिचिन्त्येव महीरुहः सरोपाः ।
प्रतिरुध्य लताभिरग्रश्रृङ्गे पृषतानुत्पततोऽग्नये वितेरुः ॥ १७ ॥

पत्तों के खाने के अपराध को याद कर मानों क्रुद्ध वृक्षों ने अपनी लताओं से पृषती मृगों की सींगें लपेट अग्नि को अर्पित कर दिया ॥ १७ ॥

न शरीरभृतां परं कृशानुः प्रसरन्नाशु जहार जीवनानि ।
सरसां सरितां च तीरकक्षे परिसर्पन्क्रमशस्तथैव चक्रे ॥ १८ ॥

फैलती हुई आग ने केवल शरीरधारियों का प्राण ही शीघ्र नहीं लिया अपितु सरोवर और सरिताओं के तटों पर फैल कर उन्हें भी वैसा ही बना डाला है ॥ १८ ॥

सरितामविभावनीयरूपं सहसाविश्य जहार जीवनं यत् ।
अत एव बभार काननाग्निः समदाभूतपदाभिधां यथार्थाम् ॥१९॥

अग्नि ने अविभावनीय रूपवाली सरिताओं में प्रवेश कर जीवों का संहार किया उससे वनाग्नि ने "समदाभूतपदा" के नाम की यथार्थता सिद्ध की ॥१९॥

अपि पल्वलमुल्बणं झषौघं परितापातिशयं तथा जगाम ।
इह कोलकुलं विविग्नमग्नैर्विलमग्नं न यथोज्जगाम जीवत् ॥ २० ॥

मछलियों से भरा गड्ढा भी ऐसा तप्त हो उठा कि अग्नि से भयभीत विल में स्थित शूकर-समूह भी जीवित बाहर न निकल सका ॥ २० ॥

दरदग्धवराहदेहजातैः परिदिग्धानि भृशं वसाप्रवाहैः ।
विपिनानि समश्नतः कृशानोरुपदंशत्वमगुः पुलिन्दपत्न्यः ॥ २१ ॥

गुफाओं में अधजले शूकरों की देह से उत्पन्न चर्बी से व्याप्त जंगल को जलाती हुई आग की चपेट में पुलिन्द जाति की स्त्रियां आ गईं ।। २१ ।।

सविधे परिधावतः कुरङ्गान्न किराताः शरलक्ष्मतामनैषुः ।
दवपावकजातसंभ्रमाणां शवरीणां परिरक्षणैकतानाम् ।। २२ ।।

समीप में ही दौड़ते हुए मृगों पर किरातों ने बाण नहीं चलाया। वे तो वन में लगी आग से व्याकुल शवरियों को बचाने में दत्तचित्त थे ।। २२ ।।

धवलीकृतमूर्तयः समन्तादवकीर्णैः पवनेन भस्मजालैः ।
गिरयोऽस्थिचया इवावशिष्टाः समभूवन्परिदग्धकाननानाम् ।। २३ ।।

चारो ओर हवा से छीटी गई राख से सफेद हुए पर्वत जले हुए जंगलों के के अस्थिसमूह के समान लग रहे थे ।। २३ ।।

इति तत्र चिराय दह्यमाने विपिने भूमिपतिर्विगाढशोकः ।
विललाप विदर्भसंभवायामपराद्धं ज्वलनस्य शङ्कमानः ।। २४ ।।

इस प्रकार देर से जलते हुए जंगल में शोकाभिभूत राजा दमयन्ती के जलने की सम्भावना से विलाप करने लगे ।। २४ ।।

अवलोक्य शिखाशतैः करालं प्रसरन्तं परितः कृशानुराशिम् ।
दमयन्ति मया शठेन मुक्ता कमरण्येषु करिष्यसे शरण्यम् ।। २५ ।।

चारो ओर फैलती हुई भीषण आग की लपटों को देख मुझ दुष्ट से परित्यक्त दमयन्ती ने भला किस वन में शरण ली होगी ।। २५ ।।

ज्वलनस्य विवाहसाक्षिणोऽपि भ्रमणेनासि पुरा नितान्तखिन्ना ।
मृदुलाङ्गि कथं नु संप्रति त्वं वनवह्नेर्विषहिष्यसेऽभितापम् ।। २६ ।।

विवाह के साक्षी अग्नि की परिक्रमा के समय भी तुम्हें अत्यन्त कष्ट हुआ था। किन्तु हे कोमलाङ्गि ! इस समय तुम इस वनाग्नि के ताप को कैसे सह सकोगी ।। २६ ।।

दयिते तव विप्रयोगजन्मा ज्वलनो मां प्रबलश्चिरादधाक्षीत् ।
अधुनाभ्यधिकं करिष्यतेऽसौ किमिवायं वनपादपप्रसूतः ।। २७ ।।

हे प्रिये ! तुम्हारे वियोग से उत्पन्न आग तो मुझे चिर काल से जला रही है, किन्तु क्या वन-वृक्षों से उत्पन्न यह आग उस से अधिक दाहक होगी ।। २७ ।।

तव सुन्दरि विप्रयोगजन्मा हृदि योऽयं मम जृम्भतेऽनुवेलम् ।
उपगन्तुमपि स्फुलिङ्गभावं शिखिनस्तस्य शिखी न कल्पतेऽसौ ।। २८ ।।

हे सुन्दरि ! तुम्हारे वियोग से उत्पन्न जो आग मेरे हृदय में निरन्तर जल रही है उस आग को चिनगारी के बराबर भी यह आग नहीं है ।। २८ ।।

विपिनानल धन्यतामुपैषि क्षणमात्रेण दहन्वनान्यमूनि ।
धिगिमं विरहानलं वपुर्मे ग्लपयत्येव निनीषते न निष्ठाम् ।। २९ ।।

हे वनाग्नि ! तुम धन्य हो क्योंकि तुम ने क्षणमात्र में ही इन वन को जला डाला। किन्तु इस विरहानल को धिक्कार है जो मेरे शरीर को जला तो रहा है किन्तु नष्ट नहीं कर रहा है ॥ २९ ॥

इति मात्रमुपेयुषा समीपं विधिदोषानितरान्दवीयसोऽपि।
अनलेन नलेन वाऽद्य बाले नियतं जीवितसंशयं गतासि ॥ ३० ॥

हे बाले ! अन्य भाग्य-दोष अत्यन्त दूर रहने पर भी क्षणमात्र में समीप पहुँचनेवाले अनल से अथवा नल से आज दोनों से निश्चय ही तुम्हारा जीवन संशय में पड़ गया है ॥ ३० ॥

दमयन्ति मया विचुम्बनादिस्मरलीलावसरेषु यान्यकार्षीः।
प्रथयिष्यसि तानि सीत्कृतानि त्वमिदानीं बत पीडिता स्फुलिङ्गैः ॥ ३१ ॥

हे दमयन्ति ! काम-क्रीड़ादि के समय चुम्बनादिजन्य सीत्कारों को आज तुम अङ्गार से पीड़ित हो कर प्रकट करोगी ॥ ३१ ॥

मुकुलीकृतदीर्घपक्ष्मलाक्षं स्मरसंदर्भभुवा परिश्रमेण।
श्रमवारिलवाभिषिक्तभालं स्मरणीयं बत तन्मुखं तवासीत् ॥ ३२ ॥

काम-क्रीड़ादि के समय श्रम से अपनी दीर्घ बरनियों वाली आखें मूंद श्रम से उत्पन्न पसीने से शोभित ललाटवाला तुम्हारा वह मुख बड़ा ही स्मरणीय था ॥ ३२ ॥

अभिरूषितहेमकुम्भकान्त्योः परिणाहिस्तनयोः परिस्फुरन्ती।
अवलोक्य हुताशनस्य हेतीर्ध्रुवमायास्यसि संभ्रमातिरेकम् ॥ ३३ ॥

ढके हुए स्वर्ण-कुम्भ की कान्तिवाले बड़े-बड़े स्तनों की चमक देख आग की ज्वाला निश्चय ही घबड़ा उठेगी ॥ ३३ ॥

विपुलस्तनभारपीडितापि क्षणमुत्सृज्य मतिं निसर्गमन्दाम्।
व्रज सुन्दरि सत्वराङ्घ्रिपातं प्रसरत्येष समन्ततः कृशानुः ॥ ३४ ॥

भारी स्तनों से पीड़ित होने पर भी अपनी मन्दता क्षण भर के लिए त्याग कर हे सुन्दरि, अपने पैरों को जल्दी-जल्दी आगे बढ़ाना, क्योंकि आग चारो ओर फैल रही है ॥ ३४ ॥

स्खलदङ्घ्रि विशीर्णकेशबन्धं परितः प्रेरितदृष्टि विद्रवन्ती।
वनराजिषु वीक्ष्य वीक्ष्य वह्निं दयिते यास्यसि कीदृशीमवस्थाम् ॥ ३५ ॥

पैर डगमगा रहे हैं, बाल बिखरे हैं, आँखों को चारो ओर बिखेरती, वन में चारो ओर आग देख कर हे दयिते ! तुम्हारी दशा कैसी हो गई होगी ॥ ३५ ॥

यदि सत्यगिरो दिवौकसः स्युर्यदि चेतो मम तेषु निर्विकारम्।
स्वमनोरथलङ्घनापराधं दमयन्त्याः स्मरतात्तदेष नाग्निः ॥ ३६ ॥

यदि देवताओं की वाणी सत्य है, यदि उन के प्रति मेरा चित्त निर्विकार है तो हे अग्नि ! दमयन्ती के द्वारा किये गये आप की अभिलाषा के उल्लंघन को स्मरण न करना ॥ ३६ ॥

इति तत्र वनोदरे नरेन्द्रं विलपन्तं मुनिशापबद्धदेहः ।
मनुजोचितया गिरा बभाषे भुजगः कोऽपि दवाग्नितापखिन्नः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार उस वन में विलाप करते हुए नरेन्द्र से किसी मुनि के शाप के कारण शरीर धारण किए दवाग्नि से खिन्न कोई सर्प मनुष्यवाणी में बोला ॥३७॥

अविषह्यतमेन दह्यमानं मुनिशापेन दवाग्नितेजसैव ।
अभिरक्षतु मां महीसुधांशो तव कारुण्यमयः सुधाभिषेकः ॥ ३८ ॥

दवाग्नि की ज्वाला के समान असह्य मुनि-शाप से दग्ध मेरी रक्षा, हे पृथ्वीन्दु आप की करुणामयी सुधा का अभिषेक करे ॥ ३८ ॥

अकृतोपकृतावपि क्षितीन्दो त्वयि दृष्टे मम कोऽप्यभूत्प्रमोदः ।
अविसृष्टजलेऽपि वारिवाहे जगदाश्वासमुपैति घर्मतप्तम् ॥ ३९ ॥

हे पृथ्वीन्दु ! बिना कुछ उपकार किये ही आप को देख कर मुझे प्रसन्नता हो रही है। पानी न बरसानेवाले भी बादल को देख कर गर्मी से तप्त संसार सुख की सांस लेता है ॥ ३९ ॥

इति वाचमनुव्रजन्नरेन्द्रः फणिनं मण्डलितं क्षितौ ददर्श ।
करविच्युतकङ्कणोपमानं वनलक्ष्म्याः शिखिशङ्कया द्रवन्त्याः ॥ ४० ॥

इस प्रकार की वाणी सुनकर अग्नि की शङ्का से द्रवित होती हुई वनलक्ष्मी के हाथ से गिरे हुए कङ्कन के समान पृथ्वी पर कुंडली बनाये हुए सर्प को राजा ने देखा ॥ ४० ॥

अथ दंशभयादिवापमुक्तः सविधेऽपि ज्वलता हुताशनेन ।
सदयं परिपृष्टशापहेतुं पृथिवीन्द्रं पुनराह पन्नगेन्द्रः ॥ ४१ ॥

समीप में ही जलती हुई आग के द्वारा मानों दंश-भय से छोड़ दिया गया है, ऐसा वह सर्प दयापूर्वक शाप का कारण पूछनेवाले राजा से बोला ॥ ४१ ॥

चतुराननसंभवो महर्षिर्मयि रोषं कृतवान्कुतोऽपि हेतोः ।
इह मामरुजद्गिरा स तावत्तव राजन्न करान्स्पृशामि यावत् ॥ ४२ ॥

ब्रह्मा से उत्पन्न कोई महर्षि किसी कारणवश मुझसे रुष्ट हो गये। उन्होंने वाणी के द्वारा आपके कर-स्पर्श पर्यन्त मुझे यहां पीड़ित कर दिया ॥ ४२ ॥

क्रमशः परिहीयमाणकान्तेः स्फुटतीवेशमणिः फणागतो मे ।
अभितापमवाप्य दाववह्नेरसवः कण्ठतटान्तरे लुठन्ति ॥ ४३ ॥

क्रमशः क्षीण हो रही कान्तिवाली मेरी फणगत मणि फूट सी रही है। वनाग्नि की ज्वाला से मेरे प्राण कण्ठ तक आगये हैं ॥ ४३ ॥

प्रतिसंगरसीम्नि वैरलक्ष्म्याः प्रसभाकर्षणकर्मकर्मठेन।
नय मां गणयन्पदानि राजन्नरुणाम्भोरुहचारुणा करेण॥ ४४॥

हे राजन्! वैर रूपी लक्ष्मी की संग्रामरूपी सीमा में खींचने में कर्मठ अपने रक्त कमल के समान सुन्दर हाथ से डेग गिनते हुए मुझे ले चलो॥ ४४॥

अहमस्मि पतिर्महोरगाणामिह कर्कोटक इत्युदीर्यते यः।
दशमे तु पदे नरेन्द्र नूनं भवतः श्रेयसि निर्भरं यतिष्ये॥ ४५॥

मैं महासर्प का पति हूँ जिसे लोग "कर्कोटक" कहते हैं। दसवें कदम पर निश्चय ही मैं आपका उपकार करूँगा।॥ ४५॥

गणनां विदधन्नलः पदानां स्फुटवर्णं यदसौ दशेत्यवादीत्।
अवलम्ब्य तदेव दन्दशूकः करमेतस्य ददंश दक्षिणं सः॥ ४६॥

पैरों का डेग गिनते हुए नल ने जैसे ही दश कहा वैसे ही उस विषैले सर्प ने इनके दाहिने हाथ में काट लिया॥ ४६॥

नृपतिर्भुजगेन दष्टमात्रः कमनीयां सहजामपास्य कान्तिम्।
उपरक्त इवामृतांशुराशीत्तरसैव प्रतिपन्नवर्णभेदः॥ ४७॥

काटते ही राजा की सहज सुन्दर कान्ति नष्ट हो गई। ग्रहण से ग्रसित चन्द्रमा के समान शीघ्र ही उनका वर्ण बदल गया॥ ४७॥

अथ वीक्ष्य तनोस्तथा विकारं परिदंशं च विचिन्त्य निर्निमित्तम्।
नलमास्थितवैमनस्यमूचे वपुरासाद्य स दिव्यमाशु नागः॥४८॥

अपने शरीर के ऐसे विकार को देखकर एवं निष्कारण दंश को विचार कर वैमनस्य उत्पन्न हो गया है मन में जिसके ऐसे नल से वह शीघ्र ही सुन्दर शरीर धारण कर बोला॥ ४८॥

इदमप्रियवन्मया कृतं यन्नृपते यास्यति तत्तव प्रियत्वम्।
प्रथमं कटु भेषजं निपीतं परिणामे हि सुधारसत्वमेति॥ ४९॥

हे राजन्! यह जो मैंने अप्रिय कार्य किया वह तुम्हारे लिए हितकर होगा। पहले तो दवा कड़वी लगती है परन्तु परिणाम में वह अमृत के समान लगती है॥ ४९॥

नगरे नगरे क्षितीश्वराणां निषधाधीश चिरं चरिष्यसि त्वम्।
तदमी युधि निर्जिताः कथं त्वां विषहेरन्नवलोक्य निःसहायम्॥ ५०॥

पृथ्वी पर राजाओं के नगर-नगर में तुम अधिक दिनों तक घूमोगे। हे निषधाधीश! अतः युद्ध में जीते गये वे राजा तुम्हें असहाय पाकर कैसे सहन करेंगे॥ ५०॥

अवलम्ब्य नयं गुरुप्रणीतं सततं रन्ध्रनिरूपणप्रवीणाः।
प्रभवन्ति परे पराभवाय प्रबलानामपि दुर्बलाः क्षितीन्द्राः॥ ५१॥

गुरु-प्रणीत नीति का अवलम्ब ले निरन्तर छिद्रान्वेषण में प्रवीण ये दुर्बल भी राजा प्रबलों को पराजय में समर्थ हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

अधुना तु रिपूंस्त्वमेक एव युधि जेतुं सहितानपि क्षमोऽसि ।
न भजेः परिपन्थितां यदा ते दमयन्तीविरहानलो बलीयान् ॥ ५२ ॥

उस समय भी यदि दमयन्ती के विरह से उत्पन्न बलवान् अग्नि तुम्हारे मार्ग में बाधा न पहुंचाये तो तुम अकेले ही शत्रुओं को युद्ध में जीतने में असमर्थ हो ॥ ५२ ॥

इति चिन्तयता मया विमुक्तं विषमेतत्त्वचमेव संस्पृशंस्ते ।
असितागुरुलेपनिर्विशेषां वपुषः श्यामलतामिमां व्यधत्त ॥ ५३ ॥

यह सोचकर केवल त्वचा तक का ही स्पर्श करनेवाला विष दिया है। इससे उनका शरीर नीले अगुरु लेप से युक्त श्याम वर्ण का हो गया ॥ ५३ ॥

अयि नीतिविदं नरेश्वर त्वां कितवं यस्त्रिदशाधमश्चकार ।
अधुनापि शरीरमाविशन्तं गरलं धक्ष्यति मामकं तमेव ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! नीतिज्ञ तुम्हारे साथ देवताधम ने बड़ी ही धूर्तता की। इस समय शरीर में प्रवेश करता हुआ मेरा विष उन्हें भी नष्ट कर देगा ॥ ५४ ॥

अधुना त्वयि भाव्यपूर्वरूपः सविधस्थैः स्वजनैरपि त्वमासीः ।
व्रज निष्प्रतिबन्धमाशु राजन्नृतुपर्णस्य नृपस्य संनिकर्षम् ॥ ५५ ॥

समीपस्थ आत्मीय जनों के द्वारा भी तुम्हारे पूर्वरूप की सम्भावना न की जा सकेगी। अतः निश्शङ्क हो कर तुम शीघ्र ऋतुपर्ण राजा के पास जाओ ॥५५॥

भुवनत्रयलुण्ठनापराधाद्दशकण्ठं रणलीलया जिघांसुः ।
जगतः प्रभवोऽपि यस्य वंशे प्रभवं स्वस्य हरिः पुरा व्यधत्त ॥ ५६ ॥

तीनों लोकों के लूटने के अपराध के कारण, रावण को रण के द्वारा मारने की इच्छावाले स्वयं विष्णु जो इस विश्व को बनाने वाले हैं, उन्हें भी पहले जिस कुल में जन्म लेना पड़ा ॥ ५६ ॥

कृतमस्य गुणान्तराविधानैस्तव सख्योचित एष राजचन्द्रः ।
उपगन्तुममुष्य सारथित्वं सहसा याहि विभो पुरीमयोध्याम् ॥ ५७ ॥

यह (ऋतुपर्ण) राजाओं में श्रेष्ठ अपने गुणों से तुम्हारी मित्रता के योग्य है। उस का सारथि बनने के लिए आप शीघ्र अयोध्या नगरी में चले जांय ॥५७॥

अवलोक्य कलासु कौशलं ते निजदेहादधिकं स मंस्यते त्वाम् ।
निवसन्निह मेदिनीसुधांशो दमयन्तीमचिरेण लप्स्यसे त्वम् ॥ ५८ ॥

तुम्हारी कला-निपुणता देख कर वह अपने शरीर से बढ़ कर तुम्हें मानेगा। हे पृथ्वीन्दु ! वहां रह कर आप शीघ्र ही दमयन्ती को प्राप्त करेंगे ॥ ५८ ॥

उपयास्यति लोचनातिथित्वं पृथिवीनाथ विदर्भजा यदास्ते ।
अपहातुमिमं वपुर्विकारं परिधेहि त्रिदशांशुके तदैते ॥ ५९ ॥

जैसे ही दमयन्ती आप को दिखाई पड़े वैसे ही अपने शरीर के इस विकार को दूर करने के लिये इन देवताओं के वस्त्रों को धारण कर लेना ॥ ५९ ॥

इति वाचमुदीर्य नागराजः सुरयोग्यं वसनद्वयं वितीर्य ।
अनुभाववशान्निजं शरीरं तिरयामास नलस्य पश्यतोऽपि ॥ ६० ॥

नागराज ने इस प्रकार कह कर देवताओं के योग्य दो वस्त्र देकर नल के देखते ही अपने प्रभाव से अपने शरीर को छिपा लिया ॥ ६० ॥

इति दर्शितशोकसागरान्तः फणिराजेन पतिर्विदर्भजायाः ।
स च तेन विमुक्तशापबन्धः प्रतिनन्द्योपकृतिं मिथः प्रयातौ ॥ ६१ ॥

इस प्रकार नल ने नागराज के द्वारा शोक-सागर के अन्त का उपाय पाकर और उन से वह (नागराज) भी शापमुक्त हो परस्पर उपकार का अभिनन्दन कर चले गये ॥ ६१ ॥

सूते यद्विषमेव जीवितहरं कर्कोटकस्याननं
तस्मादेव वचश्छलाद्विगलितः पीयूषपूरो नवः ।
प्रत्यङ्गं कवलीकृतस्य दयिताविश्लेषजेनाग्निना
जीवातुर्जगतीपतेर्यदभवत्तच्चित्रतामाययौ ॥ ६२ ॥

जो कर्कोटक का मुख प्राण हरने वाला केवल विष ही उत्पन्न करता है, उसी से अमृत-पूर्ण छलरहित वाणी निकली । पत्नी की वियोगाग्नि से जलाये गये अङ्गवाले राजा के लिए वे जीवनाधायक हुए, यही विचित्रता है ॥ ६२ ॥

नरपतिरथ स्मारं स्मारं वचांसि फणीशितुः
किमपि किमपि प्राप्ताश्वासः समीहितसिद्धये ।
दिनकुरकुलोत्तंसेनाधिष्ठितां नगरीं व्रज-
न्नपि गिरिसरिद्दुर्गान्मार्गानमंस्त न दुर्गमान् ॥ ६३ ॥

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये नल-चरिते कर्कोटकदर्शन नाम त्रयोदशः सर्गः ।

राजा ने नागराज की बातों को बार-बार स्मरण करते हुए अभिलषित सिद्धि के लिए कुछ आश्वासन प्राप्त कर सूर्यकुल-श्रेष्ठ से अधिष्ठित नगरी की ओर जाते हुए नदी-पहाड़ आदि दुर्गम मार्गों को भी दुर्गम नहीं समझा ॥ ६३ ॥

श्री सांधिविग्रहिक, महापात्र श्री कृष्णानन्दविरचित सहृदयानन्द महाकाव्य के नलचरित में कर्कोटकदर्शन-नामक त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ ।

चतुर्दशः सर्गः

अथाश्रितां कुम्भसमुद्भवेन क्रमेण कृत्स्नां ककुभं विहाय।
स चोत्तरामप्यतिवाह्य किंचिन्नलः प्रपेदे नगरीमयोध्याम् ॥ १ ॥

राजा नल ने अगस्त्य से आश्रित दक्षिण दिशा को छोड़कर उत्तर को भी कुछ पारकर अयोध्या नगरी में प्रवेश किया ॥ १ ॥

प्रदातुमर्घ्यं सरयूजलानां पृषद्भिरम्भोरुहगन्धगर्भैः।
क्रमादयोध्योपवनं व्रजन्तं प्रत्युद्ययौ तं शिशिरः समीरः ॥ २ ॥

कमलों की गन्ध से युक्त सरयू के जलबिन्दुओं से अर्घ्य देने के लिए अयोध्या के उपवन में से जाते हुए उनकी अगवानी के लिए शीतल हवा आगे आई ॥२॥

एकैकशो निर्मितनामधेयैर्यूपच्छलाद्रोधसि संनिविष्टैः।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवैः क्षितीन्द्रैराराध्यमानां सरयूं स भेजे ॥ ३ ॥

खम्भ के रूप में प्रत्येक के नाम से तट पर सन्निविष्ट इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राजाओं से आराधित सरयू के पास पहुंचे ॥ ३ ॥

अतीत्य कृत्स्नं वनवासखेदं समागतं वीक्ष्य नलं नदी सा।
सितच्छदानां ध्वनिकैतवेन मुहुर्मुहुः स्वागतमन्वयुङ्क्त ॥ ४ ॥

वनवास के दुःख को झेलते हुए नल को आया हुआ देख कर उस नदी ने हंसों की ध्वनि के द्वारा बार-बार स्वागत किया ॥ ४ ॥

तस्यां मिथः प्रेमवशंवदानि रथाङ्गनाम्नो मिथुनानि वीक्ष्य।
विहाय भैमीमभितश्चरन्तमात्मानमन्तर्नृपतिर्निनिन्द ॥ ५ ॥

उस नदी में प्रेमाभिभूत चकवा चकई के जोड़े को देखकर दमयन्ती को छोड़कर चारो ओर घूमते हुए नल ने मन ही मन अपनी भर्त्सना की ॥ ५ ॥

अनीतियुक्तानपि नीतिभाजः संख्यावतोऽपि स्वगुणैरसंख्यान्।
विलासिनोऽप्युन्नतसौधसंस्थान्गोष्ठीषु पौरानभिनन्दयन्तीम् ॥ ६ ॥

अनीतियुक्त भी फिर नीतिमान यह विरोध हुआ, परिहार में न ईति अनीति अर्थात् ईतिरहित (अर्थात् "अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभाः मूषकाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेते ईतयः स्मृताः।।" इनसे रहित) संख्यावान् अर्थात् गणनीय विद्वानों से युक्त होती हुई भी असंख्य, संख्यारहित, विलासी (बिल + आसी)

९ स०

विल में रहने वाले भी, ऊंचे भवनों में स्थित, परिहार में विलासी अर्थात् भोगी ऐसे नागरिकों की अभिनन्दन करती हुई ॥ ६ ॥

प्रकामदुर्गां सुखसंचरां च निकामकान्तामपि कामकान्ताम् ।
राजन्वतीं वीक्ष्य पुरीमयोध्यां चिरोज्झितां स्वां नगरीं स दध्यौ ॥७॥

दुर्गोंवाली (दुःखेन गमनयोग्य) भी सुखपूर्वक संचरण के योग्य भी परिहार में दुर्ग अर्थात् किला से युक्त भी, काम की तरह मनोहर नहीं फिर भी काम की तरह मनोहर, परिहार में अत्यन्त मनोहर अतः काम की तरह मनोहर—(न कामवन्मनोहरम्, निकामं कान्ताम्, "नि स्यात्क्षेपे भृशार्थे च नित्यार्थे दानकर्मणि" इति हैमः) श्रेष्ठ राजाओं से समन्वित अयोध्यापुरी को देख, बहुत दिनों से छोड़ी हुई अपनी नगरी का ध्यान किया ॥ ७ ॥

नलेति नाम प्रथितं विहाय स बाहुकेति प्रथयांबभूव ।
दशानुरूपां रचयन्ति चेष्टामासाद्य सिद्धिं त्वभियोगभाजः ॥ ८ ॥

अपने प्रसिद्ध नल नाम को छोड़ वे बाहुक नाम से प्रसिद्ध हुए । उद्योग में लगे हुए व्यक्ति सिद्धि के लिए अवस्थानुसार चेष्टाएं किया करते हैं ॥ ८ ॥

कलिस्तु देहे निवसन्नलस्य लेभे भुजङ्गस्य विषेण दाहम् ।
अनागसि द्रोहकृतः सुजिह्मान्कियच्चिरं न ग्रसते विपत्तिः ॥ ९ ॥

नल के शरीर में निवास करने वाले कलि को सर्प के विष की दाह लगी । अनपराधी से द्रोह करने वाले कुटिलों को कितने दिनों तक विपत्ति नहीं ग्रसती ॥९॥

अवापतुस्तापमतुल्यहेतुं समास्थितौ तौ वपुरेकमेव ।
भैमीवियोगेन नलः कलिस्तु विषेण तीव्रेण भुजङ्गभर्तुः ॥ १० ॥

एक ही शरीर में स्थित उन दोनों ने असमान हेतुक ताप प्राप्त किया । दमयन्ती के वियोग से नल और सर्पराज के तीव्र विष से कलि, दोनों पीड़ित हुए ॥ १० ॥

रूपान्तरेणैव तिरोहितोऽपि गुणेन लोकोत्तर इत्यशंसि ।
आमोदपूरेण निवेद्यते हि कुब्जेन गूढापि पटीरशाखा ॥ ११ ॥

रूप बदलने से छिपे हुए भी नल अपने गुणों से लोकोत्तर समझे गये । कुब्ज से ढँकी हुई भी चन्दन की लकड़ी अपने गन्ध से ही पहचान ली जाती है ॥ ११ ॥

भाङ्गासरेः कर्णपुटोपकण्ठं निन्ये चरैस्तस्य गुणप्रकर्षः ।
क्रमेण निम्नैः पथिभिः समुद्रं प्रविश्यते प्रावृषि वारिपूरः ॥ १२ ॥

दूतों के द्वारा उनके गुणों की श्रेष्ठता ऋतुपर्ण राजा के कानों तक पहुँची । क्रम से वर्षा काल में जल से भरी हुई नदी समुद्र तक पहुँचती है ॥ १२ ॥

वृत्तं च विद्यां च दवीयसोऽपि विवेद भाङ्गसिरिस्य सर्वम् ।
चक्षुर्नृपाणां हि चराभिधानं गृह्णन्ति भावानपि विप्रकृष्टान् ॥ १३ ॥

ऋतुपर्ण ने दूर रहते हुए भी इनकी सारी विद्याओं एवं वृत्तों को जान लिया । चररूपी राजाओं को आँखें दूर की चीजें भी देख लेती हैं ॥ १३ ॥

स मन्त्रितां मन्त्रविनिश्चयेषु क्रीडारहस्येषु वयस्यभावम् ।
गजाश्वशास्त्रेषु विनेतृतां च जगाम तिग्मांशुकुलध्वजस्य ॥ १४ ॥

सूर्यकुलोत्पन्न राजा ऋतुपर्ण के साथ मन्त्रिता के समय मन्त्री, खेलते समय मित्र एवं गजाश्वादि शास्त्रों में नल उनके नेता बने ॥ १४ ॥

यथा पुरा दोर्द्रविणप्रभावादभूदयोध्यापतिरस्य वश्यः ।
रूपान्तरेणापि तिरोहितस्य गुणप्रकर्षादभवत्तथैव ॥ १५ ॥

जैसे पहले इनकी बाहु की प्रबल शक्ति से अयोध्यापति इनके वशीभूत थे, उसी प्रकार रूप बदलने से छिपे हुए भी इनके गुणों की श्रेष्ठता से पुनः वशीभूत हुए ॥ १५ ॥

शीलेन वृत्तेन च सख्यभाजोः प्रीतिस्तयोः प्राप तथाभिवृद्धिम् ।
अमात्यलोकोऽपि यथोपभेजे शरीरमात्रेण पृथक्कृतौ तौ ॥ १६ ॥

शील एवं स्वभाव के कारण दोनों की मित्रता इस प्रकार बढ़ी कि मन्त्रिगण उन्हें केवल शरीर से ही अलग समझते थे ॥ १६ ॥

ततो निदाघेन नितान्तखिन्नं विलोक्य लोकं करुणावतीव ।
तिरोदधाना किरणान्खरांशोराविर्बभूवाम्बुधरागमश्रीः ॥ १७ ॥

विश्व की गर्मी से अत्यन्त खिन्न होता हुआ देख दयार्द्र हो सूर्य की किरणों को तिरोहित करती हुई वर्षाकालीन शोभा छा गई ॥ १७ ॥

स्वमौलिरत्नद्युतिचित्रभासः सुरायुधाख्यस्य भुजंगमस्य ।
वल्मीकरन्ध्राद्बहिरुद्गतस्य भेजे फणत्वं तनुमेव चक्रम् ॥ १८ ॥

अपने मस्तक के रत्नों की कान्ति से चित्रित दीप्ति वाले इन्द्र धनुष के समान वल्मीकरन्ध्र से बाहर निकलते हुए सर्प का फण शरीर ही बन गया ॥ १८ ॥

अमुक्ततोयं प्रतिरुद्धभानु परस्परस्याकृत चित्रदण्डम् ।
अभून्नवाम्भोधरचक्रवालं लोकस्य साधारणमातपत्रम् ॥ १९ ॥

सूर्य को रोककर पानी न बरसाने वाले नवीन बादल समूह संसार के लिए छाता बन गया ॥ १९ ॥

समाश्रितैः सानुषु वारिवाहैः समीरणान्दोलनया विलोलैः ।
प्रसार्यसाणैर्गगने विहर्तुं पक्षैरिव क्षोणिभृतो विरेजुः ॥ २० ॥

पर्वत के शिखरों पर स्थित हवा से हिलाये जाने के कारण चञ्चल बादलों से ऐसा लग रहा था मानों आकाश में पंख फैलाये पर्वत ही शोभित हैं ॥ २० ॥

मया विसृष्टानि पयांसि नूनं विशोषयत्येष मयूखजालैः ।
इतीव गर्भाश्रितदीर्घरोषा कादम्बिनी चण्डरुचं रुरोध ॥ २१ ॥

मुझसे गिराये गये जल को यह अपनी किरणों से सोख लेता है, अतः बादल समूह ने अपने भीतर रोष धारण कर प्रचण्ड किरणों को रोक रखा ॥२१॥

लोकस्य संतापनिरासजन्यां संपद्यते कीर्तिमसौ मदीयाम् ।
इतीव रोषेण सुधाकरस्य ज्योत्स्नां समग्रामपिवत्पयोदः ॥ २२ ॥

संसार के तापशमन से उत्पन्न मेरी कीर्ति को यह बांट लेती है, अतः रोषपूर्वक चन्द्रमा की समग्र ज्योत्स्ना को बादल पी गये ॥ २२ ॥

यस्यां न सूर्यो न च चन्द्रतारं विभाति यत्रास्ति न कोऽपि भेदः ।
तां प्राप सिद्धिं पवमानयोगादम्भोदसंघः स्तिमितो बभूव ॥ २३ ॥

जिसमें न तो सूर्य चन्द्रमा एवं न तारे चमकते हैं, जहाँ कोई भेद नहीं है, ऐसी सिद्धि को हवा के बल से प्राप्त कर बादल स्थिर हो गये ॥ २३ ॥

जम्बूवने पक्वफलापदेशाद्रोलम्बदम्भान्नवमालतीषु ।
रुद्धे घनैर्वैरिणि तिग्मभानौ स्वैरं तमः प्रादुरभूद्दिनेऽपि ॥ २४ ॥

जम्बूवन में पके फलों के कारण एवं मालती के कुञ्जों में भंवरों के समूह के कारण तथा बादलों के द्वारा वैरी सूर्य को रुद्ध कर लेने पर दिन में भी घना अन्धकार फैल गया ॥ २४ ॥

विनातपत्रं पदवी न सेव्या दिनेषु संनद्धवलाहकेषु ।
इतीव नृत्यावसरे मयूराः कलापचक्रं व्यधुरातपत्रम् ॥ २५ ॥

मेघाच्छन्न दिनों में बिना छाते के मार्ग पर नहीं चलना चाहिए। अतः नाच के समय मयूरों ने पूंछ को छाता बना लिया ॥ २५ ॥

मुदं प्रपन्नेषु विषादवन्तः केकाविलासैर्मुखरेषु मूकाः ।
लास्यैर्विलोलेषु जडत्वभाजः पान्था बभूवुः शिखिनां गणेषु ॥ २६ ॥

मयूर समूह के प्रसन्न होने पर पथिक शोकाकुल हो गये। जब वे बोलने लगे तो पथिक मूक बन गये। उनके चञ्चल नृत्य के समय तो वे पथिक बिल्कुल जड़ हो गये ॥ २६ ॥

समीरयोगात्परिघट्टितस्य घनाम्बुराशेरिव फेनलेखा ।
नभस्तले कामपि कान्तिमापुराबद्धमालाः परितो वलाकाः ॥२७॥

हवा के सम्बन्ध से टकराते समुद्र से उत्पन्न फेनलेखा के समान आकाश में चारो ओर कतार में बकपंक्ति बड़ी सुन्दर लगी ॥ २७ ॥

प्रचण्डभानोः किरणान्सुतीक्ष्णानन्तर्भृशं तापयतः पयोदः ।
निजोदराम्भःपरिशोषशङ्की सौदामिनीपुञ्जमिषाद्ववाम ॥२८॥

बादल ने भीतर जानेवाली सूर्य की प्रचण्ड किरणों को इस भय से बिजली के माध्यम से वमन कर दिया कि कहीं ये हमारे भीतर के जल को सुखा न डालें ॥ २८ ॥

मया विना नैष घनश्चकास्ति विलोक्य मां ताम्यति नैषधश्च ।
इतीव विद्युत्परिचिन्तयन्ती मुहुश्चकासे च तिरोदधे च ॥२९॥

मेरे बिना यह बादल सुन्दर नहीं लगता और मुझे देखकर नल दुखी होते हैं । इस प्रकार सोचती हुई बिजली बार-बार चमकती थी और छिप जाती थी ॥२९॥

कोषार्जनं नीपमहीरुहाणामसुव्ययं चैव वियोगभाजाम् ।
विद्युल्लतालास्यविलासरङ्गं पयोदसङ्घः सममेव चक्रे ॥३०॥

बादलों ने कदम्ब के वृक्षों में कुड्मल उत्पन्न करना वियोगियों का प्राण लेना तथा साथ ही साथ बिजली के साथ नृत्य विलास भी किया ॥ ३० ॥

भैमीं च भीमस्य गृहेषु खिन्नां भाङ्गासरेर्वेश्मनि नैषधं च ।
मुहुर्मुहुर्द्रष्टुमिवाततान सौदामिनी व्योम्नि गतागतानि ॥३१॥

भीम के यहाँ खिन्न दमयन्ती को एवं ऋतुपर्ण के यहां नल को बार-बार देखने की इच्छा से बिजली आकाश में आती-जाती थी ॥ ३१ ॥

आसारसेकेन शमं प्रपेदे क्षोणीभृतामङ्कगतो दवाग्निः ।
नलस्य भैम्याश्च जगाम वृद्धिं वियोगजन्मा हृदि मन्मथाग्निः ॥३२॥

पर्वत की दवाग्नि वर्षा से शान्त हो गई किन्तु नल एवं दमयन्ती की वियोगजन्य कामाग्नि हृदय में और बढ़ी ॥ ३२ ॥

कृतापराधेष्वपि वल्लभेषु रोषं वधूनामपसारयन्तः ।
विश्रान्तिमीयुर्न मुहूर्तमात्रं कुञ्जेषु दात्यूहसमूहकूजाः ॥३३॥

अपराधी प्रियतमों पर किये गये वधुओं के क्रोध को दूर करते रहे । चातक क्षण भर भी कुञ्जों में विश्राम न पा सका ॥ ३३ ॥

घनाम्बुवर्षैरभिषिच्यमाना पौरस्त्यवातेन च वीज्यमाना ।
रोमाञ्चमुच्चैः प्रथयांबभूव तृणाङ्कुरोन्मेषमिषेण भूमिः ॥३४॥

बादल से सिंचित पूर्व दिशा की ओर से आती हुई हवा से विजित भूमि ने तृणाङ्कुर के रूप में रोमाञ्च प्रकट किया ॥ ३४ ॥

अथोपपन्नप्रणयेषु दैवाद्दूरं प्रयातेषु सितच्छदेषु ।
शोकातिभारादिव पद्मिनीभिर्नवाम्बुपूरे सरसां न्यमज्जि ॥३५॥

दैववशात् अनुरागी हंसों के दूर चले जाने पर शोकभार के कारण कमलिनी नवीन जल से पूर्ण सरोवर में डूब गई ॥ ३५ ॥

मानग्रहे वृद्धिमुपागतेऽपि सरित्पतिं वेगवशेन याताः।
वधूविरुद्धं सरितश्चरित्रं तेनैव नूनं प्रथयांबभूवुः ॥३६॥

अत्यधिक मान करने पर भी नदियाँ तीव्रता से समुद्र की ओर जाने लगीं। निश्चय ही उस मेघ के द्वारा वधू-विरुद्ध नदियों का आचरण प्रकट हुआ ॥ ३६ ॥

आस्कन्धमग्नाः सलिलेषु वृक्षाः कृतार्तनादाः खगकूजितेन।
शाखाकरैर्वायुवशाद्विलोलैर्मिथः समुद्धर्तुमिवाह्वयन्ति ॥३७॥

जल में स्कन्ध तक डूबे हुए पक्षियों के कूजन के द्वारा आर्तनाद करते हुए एवं हवा से हिलते हुए शाखारूपी हाथ से बुलाते हुए डूबने से बचाने के लिए चिल्ला रहे हैं ॥ ३७ ॥

विभिद्य सेतूनभितः स्थलानि समश्नुवानेषु सरिज्जलेषु।
निगूढपादाः पृथिवीरुहोऽपि तदा बभूवुः प्लवमानकल्पाः ॥३८॥

पुलों को तोड़कर चारो ओर फैले हुए नदी के जल में डूबे हुए वृक्ष उस समय मानों तैर रहे थे ॥ ३८ ॥

मया कृतं निर्गमनं मदीयैरम्भोभरैर्निर्वसुधं व्यधायि।
इतीव दर्पं प्रथयन्पयोदः प्रतिक्षणं तारतरं जगर्ज ॥३९॥

मैंने सबका चलना फिरना बन्द कर दिया। मैंने अपने जल से पृथ्वी को ही डुबा डाला। इस अहङ्कार स बादल प्रतिक्षण जोरों से गरज रहे थे ॥ ३९ ॥

इत्थं क्रमादम्बुधरागमश्रीर्यथा यथा यौवनमाससाद।
तथा तथा दुर्विषहा बभूवुः शोकोर्मयो भीमतनूभवायाः ॥४०॥

इस प्रकार जैसे-जैसे वर्षाकाल की शोभा ने प्रौढ़ता प्राप्त की, वैसे ही दमयन्ती की शोक की लहरें बढ़ीं ॥ ४० ॥

समृद्धकामापि पुरी विदर्भा शोकेन भैम्याः समवाप खेदम्।
अप्येकवीरुत्प्रभवः कृशानुः कृत्स्नां दहत्येव वनीं निदाघे ॥४१॥

समृद्ध विदर्भ नगरी भी दमयन्ती के शोक से दुखी हुई। एक वृक्ष से भी उत्पन्न आग समूचे बन को जला डालती है ॥ ४१ ॥

ततः समुत्कर्षवतीर्विलोक्य वर्षाः कुलायेष्ववसन्विहंगाः।
भीमस्य चारास्तु तदापि चेरुर्जामातरं मार्गयितुं नियुक्ताः ॥४२॥

वर्षा की तीव्रता देख पक्षी अपने घोसलों में ही निवास कर रहे थे। किन्तु राजा भीम के दूत दामाद नल की खोज में इधर-उधर घूम रहे थे ॥ ४२ ॥

नलं विना यानि न वेद कश्चिद्रहस्यसंकेतपदानि भैम्याः।
उदैरयंस्तानि परिस्फुटार्थं गोष्ठीषु गोष्ठीषु गृहे गृहे ते ॥४३॥

दमयन्ती के रहस्यमय संकेतों को नल के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जानता था किन्तु आज उसकी चर्चा स्फुट रूप से घर-घर गोष्ठियों में वे दूत कर रहे थे ॥ ४३ ॥

वनेषु शैलेषु सरित्तटेषु स्थलेष्वनूपेषु पुरेषु राज्ञाम् ।
निरूपयन्तोऽप्यनिशं प्रयत्नाद् व्यालोकयन्क्वापि न नैषधं ते ॥४४॥

वनों में, पर्वतों पर, नदी तीरों पर, स्थल में, जलाधिक प्रदेश में, राजाओं के नगरों में निरन्तर ढूंढ़ते हुए भी वे कहीं नल को प्राप्त न कर सके ॥ ४४ ॥

निवृत्य भेजुर्नगरीं विदर्भां नलस्य वृत्तान्तमविन्दमानाः ।
भीमस्य दूताः स्मृतिमागतेन शोकेन भैम्याः प्रतिरुध्यमानाः ॥४५॥

दमयन्ती के स्मरण हुए शोक से बाधित भीम के दूत नल के वृत्तान्त को न प्राप्त कर पुनः विदर्भ नगरी की ओर लौट आए ॥ ४५ ॥

अथेङ्गिताभ्यूहनलब्धवर्णः कश्चिच्चरः प्राप्य पुरीमयोध्याम् ।
नलं समासाद्य रहस्यवादीदमूनि संकेतपदानि भैम्याः ॥४६॥

चेष्टाओं से समझ कर किसी दूत ने अयोध्या नगरी में पहुँच कर नल को प्राप्त कर दमयन्ती के संकेतों को एकान्त में बताया ॥ ४६ ॥

नभस्तले संचरता यथेच्छं विहंगडिम्भेन विलोक्यमानः ।
एकाकिनीं काननसीम्नि मुग्धामनागसं मुञ्चति कः सुचेताः ॥४७॥

आकाश में स्वेच्छा से विचरण करते हुए पक्षिशावकों से देखा जाता हुआ कौन सचेता वन में अकेली अनपराधिनी मुग्धा को छोड़ सकता है ॥ ४७ ॥

दया च लज्जा च मतिश्च नूनं सर्वाश्रयोऽयं परिचारवर्गः ।
जनः कुलीनोऽप्यनया विहीनस्ताभिः प्रकामं परिहीयते यत् ॥४८॥

दया, लज्जा एवं बुद्धि यह सभी के पास है। कुलीन भी यदि स्त्री से हीन है तो वह दया आदि से भी यथेष्ट रहित हो जाता है ॥ ४८ ॥

मनांसि पुंसां परिणामवद्भिस्तुल्यानि किंपाकफलैर्भवन्ति ।
अन्तः प्रकृत्या विरसान्यमूनि वहिर्वहिर्ये प्रथयन्ति रागम् ॥४९॥

पुरुषों का मन भी पके हुए फल के समान होता है। भीतर से तो नीरस किन्तु बाहर से राग प्रकट करता है ॥ ४९ ॥

इत्थं वचो दूतमुखान्निशम्य प्रागेव संस्मृत्य विचेष्टितं स्वम् ।
निगृह्य बाष्पप्रसरं कथंचिदिदं बभाषे निषधाधिनाथः ॥५०॥

दूत के मुख से ऐसी बातें सुनकर और पहले किये गये अपने व्यवहार का स्मरण कर आंसुओं को रोककर किसी तरह नल इस प्रकार बोले ॥ ५० ॥

प्रतिक्षणं तापयता शरीरं शोकानलेन स्वयमर्जितेन ।
विलुप्तसंज्ञं कितवं विनान्यः प्राणेश्वरीं मुञ्चति कानने कः ॥५१॥

स्वयमर्जित शोकानल से प्रतिक्षण शरीर को जलाता हुआ संज्ञाशून्य व्यक्ति के अतिरिक्त दूसरा कौन प्राणेश्वरी को वन में छोड़ सकता है ॥ ५१ ॥

नूनं रथाङ्गौ विगमे रजन्याः श्रेयः समासंश्रितमश्नुवाते ।
न जीवितं तौ परिमुञ्चतश्चेदसह्यमासाद्य वियोगखेदम् ॥ ५२ ॥

रात्रि के बीत जाने पर चकवा चकई प्राप्त सुख का उपभोग करते हैं । असह्य वियोगजन्य पीड़ा को प्राप्त कर भी वे दोनों जीवन का त्याग नहीं करते ॥ ५२ ॥

श्रुत्वा वचः कैतवबाहुकस्य पुरीं विदर्भां सहसा स भेजे ।
विदर्भजायाः सविधे च सर्वं शशंस राज्ञा विहिताभ्यनुज्ञः ॥५३॥

छली बाहुक की बातें सुनकर सहसा वह विदर्भ नगर की ओर गया । राजा से आज्ञा प्राप्त कर उसने दमयन्ती से सारी बातें बताईं ॥ ५३ ॥

सा बाहुकेनोदितमाकलय्य चरोपनीतं किमपि प्रहृष्य ।
निशम्य तस्याकृतिवैपरीत्यं भूयोऽपि शोकाम्बुनिधौ ममज्ज ॥५४॥

चर द्वारा लाये गये बाहुक के समाचार पर विचार कर एवं उसकी आकृति में विपरीतता सुनकर दमयन्ती पुनः शोक सागर में डूब गई ॥ ५४ ॥

अत्रान्तरे निषधभर्तुरवेक्षणाय
क्षोणीतलं ततइतः सुचिरं विगाह्य ।
सूतोऽस्य कश्चन पथि श्रमनोदनार्थ-
मिक्ष्वाकुवंशतिलकस्य पुरं प्रपेदे ॥५५॥

इसी बीच नल को देखने के लिए पृथ्वी पर घूमता हुआ कोई सारथि रास्ते के श्रम को दूर करने के लिए राम की राजधानी अयोध्या में आया ॥ ५५ ॥

आसन्नसंगतिमहोत्सवशंसनाय
विश्रब्धदूतमिव तं प्रहितं स्वलक्ष्म्या ।
पश्यन्नपि प्रथयति स्म निजं न रूपं
रुद्धः फणीन्द्रवचसा निषधाधिनाथः ॥५६॥

अपनी प्रिया से भेजे गये विश्वासी दूत को देखकर भी नागराज के द्वारा रोके जाने के कारण नलने अपने रूप को प्रकट नहीं किया ॥ ५६ ॥

आकारभेदपिहितेऽपि नलेऽन्तिकस्थे
सूतस्य चित्तमभजत्कमपि प्रमोदम् ।

पूर्वाद्रिशृङ्गजुषि वारिधरावृतेऽपि
घर्मद्युतौ सरसिजं स्मितमातनोति ॥५७॥

आकार में भेद होने पर भी नल के समीप में रह कर सूत को प्रसन्नता हुई। उदयाचल पर स्थित बादलों से ढंके रहने पर भी सूर्य का तेज कमल को खिला ही देता है ॥ ५७ ॥

तं शुद्धभावमधिगत्य नलः स चैनं
लोकोत्तरैर्गुणगणैरभिनन्दनीयम् ।
सौहार्दबन्धमतिमात्रमुपेयिवांसौ
तावश्विनाविव सदा सहितावभूताम् ॥५८॥

नल उसके शुद्ध भाव को जानकर और वह (सूत) भी इनके लोकोत्तर गुणों से आकृष्ट हो दोनों अश्विनीकुमार के समान मित्रता के बन्धन में बँध सदा साथ रहने लगे ॥ ५८ ॥

ज्योत्स्नासारैः स्नपयति जगद्यामिनीजीवितेशे
मन्दं मन्दं वहति कुसुमामोदमित्रे समीरे ।
स्मारं स्मारं वनभुवि तथा विक्लवां प्रेयसीं स्वां
सायं सायं व्यतनुत नलस्त्यक्तधैर्यः प्रलापम् ॥५९॥

चन्द्रमा के अपनी किरणों से संसार को नहलाने पर कामोद्दीपक मन्द-मन्द पवन के बहने पर वन में उस प्रकार पीड़ित अपनी प्रेयसी को स्मरण कर नल सायङ्काल धैर्य छोड़कर प्रलाप करने लगे ॥ ५९ ॥

वैरिण्यः क्षणदाः शशाङ्कमिरणैर्मर्मच्छिदो वासराः
स्मेराम्भोरुहसौरभैर्वनभुवः सप्तच्छदैर्दुस्तराः ।
कासाराः कलहंसकेलिरसितैर्मीनैश्च कूलंकषा
जीवातुस्तव जीवितेश्वरि मया कुत्रापि न प्रेक्ष्यते ॥६०॥

चन्द्रकिरणो से रात वैरिणी हैं, खिले हुए कमलों की गन्ध से दिन हृदय-विदारक है, सप्तछन्दों से वनभूमि दुस्तर हैं, तालाब कलहंस की क्रीड़ा ध्वनियों से, मछलियों से नदियाँ हे जीवितेश्वरि मैं कहीं भी कुछ भी ऐसा नहीं देख रहा हूँ जो तुम्हें जीवन दे सके ॥ ६० ॥

तिर्यञ्चोऽपि सितच्छदाः कमलिनीं संभावयन्त्यागताः
संत्यज्यापि धनाधिनाथदयितं ते मानसाख्यं सरः ।
तां बालामनुयायिनीं प्रियतमामेकाकिनीं कानने
भ्राम्यन्तीमपहाय जीवति शठः कस्मादयं नैषधः ॥६१॥

कुवेर के प्रिय मानसरोवर को छोड़कर कमलिनी की सम्भावना से हंस भी आगये। किन्तु पीछे-पीछे चलने वाली प्रियतमा को वन में अकेली घूमती हुई छोड़कर यह नल कैसे जी रहा है ? ॥ ६१ ॥

सैवेयं शरदम्बुवाहविषमा निस्तन्द्रचन्द्रद्युतिः
प्रालेयाम्बुलयाभिषेकशिशिरः सोऽयं निषिद्धानिलः ।
एतत्तन्मधुपत्रजैरनुसृतं शेफालिकासौरभं
सोऽयं निष्करुणो नलः शशिमुखी सा केवलं नेक्षते ॥

वही मेघ से रहित शरत्कालीन चन्द्रमा की कान्ति है, ओसकणों से भींगी वहीं ठंडी हवा है, मधुपों से घिरी वहीं शेफालिका की गन्ध है, वही निष्करुण नल हैं, केवल वह चन्द्रमुखी दिखाई नहीं पड़ रही है ॥ ६२ ॥

इत्थं वाचमुदीर्य भीमतनयाविश्लेषखिन्नं वपुः
पर्यङ्के परिवर्तनव्यतिकरैर्निर्निद्रमायासयन् ।
आपृष्टः प्रथितादरेण सुहृदा सूतेन तेनैकदा
तं दाक्षिण्यवशादुवाच रहसि व्याजोत्तरं बाहुकः ॥

इस प्रकार की बातें कह कर दमयन्ती के विरह से खिन्न शरीर वाले नल पलंग पर करवट बदलते हुए सो नहीं पा रहे थे। एकबार आदरपूर्वक उस सूत से पूछे जाने पर प्रकारान्तर से उदारतावश बाहुक ने एकान्त में उससे कहा ॥ ६३ ॥

देवस्त्र्यम्बकमौलिलब्धवसतिर्यद्गोत्रवृद्धो विधुः
कैलासाधिपतेस्तुलामुपययौ यः प्राज्यया संपदा ।
देवेन्द्रेऽपि निरादरा वृणुत यं वृदर्भराजात्मजा
सोऽयं ते श्रुतिगोचरीकृतचरः कश्चिन्नृपो नैषधः ॥६४॥

शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा के वंश में उत्पन्न जो अपनी अधिक सम्पत्ति के कारण कुवेर के समान हैं, जिसके लिये दमयन्ती ने इन्द्र का भी निरादर किया, ऐसा कोई राजा नल हैं, जिसके बारे में तुमने सुना है ॥ ६४ ॥

अविनयपथे सक्तस्त्यक्तः कथंचिदयं श्रिया
सह दयितया भ्राम्यन्विन्ध्याटवीषु मयेक्षितः ।
तदनु विधुरस्यास्य प्राणेश्वरीविरहाग्निना
प्रलपितमिदं स्मारं स्मारं विषीदति मे मनः ॥६५॥

अपथ पर चलने से वह लक्ष्मी से वंचित हुआ। प्रियतमा के साथ विन्ध्य के जंगलों में घूमता हुआ मुझसे देखा गया। इसके बाद प्राणेश्वरी के विरहरूपी अग्नि से प्रलाप करते हुए उस विधुर को बार-बार स्मरण कर मेरा मन दुःखी होता है ॥ ६५ ॥

अथ तस्य वाक्यपवनोद्गतार्चिषा चिरसंचितेन निजशोकवह्निना।
परिदह्यमानहृदयो मुहुर्मुहुः श्वसितं विमुच्य निजगाद सारथिः॥

तदनन्तर उसके इन बातों के कहते समय निकलती हवा से उद्दीप्त चिर-संचित अग्नि के द्वारा बार-बार जलते हुए हृदयवाले सारथी ने उच्छ्वास लेकर कहा ॥ ६६ ॥

धन्योऽसि बाहुक विनैव परिश्रमेण यन्नैषधं नयनगोचरतामनैषीः।
नैनं व्यलोकयमहं पुनरल्पभाग्यात्कृत्स्नां समुद्रवसनामपि गाहमानः॥

हे बाहुक तुम धन्य हो जो तुम बिना परिश्रम के ही नल को देख सके। किन्तु मैं इस समूची पृथ्वी पर ढूंढता हुआ भाग्य की मन्दता से न देख सका ॥ ६७ ॥

वैदर्भी तु वने भ्रमन्त्यजगरस्यास्यं प्रविष्टा ततः
कृच्छ्रान्निर्गमिता विधेः करुणया नीता निकेतं पितुः।
भूयो नैषधसंगमाय मुनिना केनापि दत्ते वरे
विश्रम्भात्तरसा न मुञ्चति शुचा क्लिष्टामपि स्वां तनूम् ॥६८॥

वन में घूमती हुई दमयन्ती अजगर के मुख में चली गई, पुनः वनेचरों के द्वारा निकाले जाने पर विधाता की दयालुता से पिता के घर लाई गई नल से पुनः मिलन होगा, इस प्रकार का किसी मुनि से वर दिये गये विश्वास के कारण वह शोक से अपने शरीर का त्याग नहीं कर रही है ॥ ६८ ॥

हस्तन्यस्तकपोलपालि विगलद्बाष्पाम्बुधौतस्तनं
निःश्वासोष्मनिपीडिताधरपुटं व्याघूर्णितार्धेक्षणम्।
ध्यायन्त्याश्च्युतचापलेन मनसा नक्तंदिवं नैषधं
वैदर्भ्याः कवलीकरोति बलवानङ्गानि शोकानलः ॥६९॥

हाँथ पर गाल रखे हुई, आँसुओं से स्नात स्तनों वाली, गर्म निःश्वास से मलिन अधरों वाली, थोड़ी आँखें खोल देखती हुई, रात दिन मन से नल का ध्यान करती हुई दमयन्ती के अङ्गों को बलवान् शोकाग्नि खा रहा है ॥ ६९ ॥

बाष्पाम्भस्तटिनीरयेष्वनुदिनं गण्डस्थले मज्जतः
पक्ष्मोन्मेषनिमेषयोरपि दृशोर्वा लास्यमभ्यस्यतः।
बाहू बालमृणालतन्तुतुलनामादातुमाकाङ्क्षतः
संतापश्वसितानिलौ तु सुतनोर्निर्म्लानिमन्विच्छतः ॥७०॥

दिनरात आंसुओं के प्रवाह में कपोल डूब रहे हैं। क्षण भर के लिए भी उठती हुई आंखों की अपनी मानों नृत्य का अभ्यास कर रही हैं। बाँह बाल-मृणाल तन्तु की समता प्राप्त करने की इच्छा कर रहे हैं। संताप के कारण निकलते हुए श्वासानल मानों इस सुतनु की मलिनता चाहते हैं ॥ ७० ॥

वारं वारं निषधनृपतेश्चिन्तयोज्जृम्भमाणै-
रुष्णोन्मेषैः प्रसृमरतटे तत्क्षणं क्षीयमाणः ।
प्रत्यासन्नैरपि सहचरीमण्डलैर्नोपलक्ष्यः
सारङ्गाक्ष्याः श्रवणपुलिने निष्पतन्बाष्पपूरः ॥७१॥

बार-बार नल की चिन्ता करने से क्षीण होती हुई समीपस्थित सखियों से भी दिखाई न पड़ने वाली मृगनयनी के श्रवण पुलिन आँसुओं से भींगे हैं ॥ ७१ ॥

मुकुलितनयनापि प्रेक्षते वैरसेनिं
सुरभिमपि निदाघं श्वासमाविष्करोति ।
कथयति हृदि खेदं मौनमभ्याश्रयन्ती
कुवलयनयनायाश्चेष्टितं चित्रमास्ते ॥७२॥

आँखे बन्द करने पर भी नल को ही देखती है । सुरभित होने पर भी उष्ण निःश्वास छोड़ती है । मौन धारण कर लेने पर भी अपनी पीड़ा हृदय से कहती है । इस प्रकार उस कमलनयनी की चेष्टायें विचित्र हैं ॥ ७२ ॥

प्राप्तां दैववशाद्विदर्भनगरीं तत्रापि शोकाग्निना
भैमीं जीवितसंशयं गतवतीं निश्चित्य सूतोक्तिभिः ।
आनन्दाङ्कुरमग्रिमं कलयता तीव्रं च खेदोच्चयं
वाष्पाम्भःपिहितेक्षणेन गमिता सा वाहुकेन क्षपा ॥७३॥

भाग्यवश वह विदर्भ नगरी में पहुँच गई किन्तु सूत के कथनानुसार वहाँ भी शोकाग्नि के कारण उसका जीवन संशय में पड़ गया है । पहले के आनन्दाङ्कुरों की सम्भावना करते हुए एवं तीव्र पीड़ा की याद करते हुए वाहुक ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से रात बिताई ॥ ७३ ॥

भाङ्गासुरिस्तदनु वन्दिजनोदिताभि-
र्भोगावलीभिरपसारितशेषनिद्रः ।
प्रातस्तनेषु विधिषु त्वरमाणचेताः
शय्यानिकेतनमपास्य वहिर्जगाम ॥७४॥

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे महाकाव्ये नल-चरिते दमयन्तीवृत्तान्तलाभो नाम चतुर्दशः सर्गः ।

इसके बाद ऋतुपर्ण वन्दिजनों की स्तुति से जगकर, प्रातःकालीन कृत्यों को शीघ्र समाप्त कर शयन-कक्ष छोड़ बाहर आये ॥ ७४ ॥

श्री सांधिविग्रहिक महापात्र श्री कृष्णानन्द कृत सहृदयानन्द महाकाव्य में नलचरित में वैदर्भी का "दमयन्तीवृत्तान्तलाभ" नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ ।

पञ्चदशः सर्गः

ततः समाहूय स बाहुकं नृपः सदः समासाद्य समेत्य मन्त्रिनभिः ।
पृथक्पृथग्वर्णविशेषचारिणां गिरश्चराणां स्मृतिगोचरेऽकरोत् ॥ १ ॥

राजा ने वाहुक को बुलाकर मन्त्रियों के साथ सभा में बैठकर, अलग-अलग विभिन्न रूप धारण कर पर्वतों में घूमने वाले दूतों से सुनना प्रारम्भ किया ॥१॥

अरात्युदासीनसपत्नताजुषां दिने दिने यद्व्यवसायवेदनम् ।
जिगीषतां दोर्बलशालिनामपि क्षितीश्वराणां प्रथमो ह्ययं नयः ॥ २ ॥

मित्रता न चाहने वाले शत्रुओं का प्रतिदिन का व्यवहार जानना यह विजय चाहने वाले शक्तिशाली राजाओं की पहली नीति है ॥ २ ॥

ततश्चरः कश्चन कुण्डिनाह्वयात्पुरादुपेतः क्षितिपं प्रणम्य तम् ।
निजांशुकान्तेन समावृताननः कृताञ्जलिर्वाचमुदैरयद्रहः ॥ ३ ॥

इसी बीच कुण्डिन नामक नगर से कोई दूत आकर राजा को प्रणाम कर अपने वस्त्र के आंचल से मुंह ढंक कर हाथ जोड़कर एकान्त में बोला ॥ ३ ॥

श्रुतं त्वया नाथ यथागतः पुरात्पुरा वनं क्वापि नलो न लक्षितः ।
अमुष्य पत्नी तु विदर्भनन्दिनी यदृच्छया प्राप पितुर्निकेतनम् ॥ ४ ॥

हे नाथ यह तो आपने सुना ही कि नल कहीं भी वन में दिखाई नहीं पड़े । किन्तु उनकी पत्नी विदर्भपुत्री इधर उधर भटकती हुई पिता के घर पहुँच गई ॥ ४ ॥

मुहुर्मुहुर्दुःसहतामुपेयुषा चिराय शोकेन हता तपस्विनी ।
भवान्तरेऽपि प्रियदर्शनाशया जुहूषतीयं ज्वलने निजं वपुः ॥ ५ ॥

बार-बार असह्य चिरकालिक शोक से आहत वह तपस्विनी दूसरे जन्म में दर्शन की इच्छा से अग्नि में अपने शरीर की आहुति देना चाहती है ॥ ५ ॥

तपस्विना केनचिदर्पितं वरं प्रतीक्ष्य निन्ये दिवसान्यमून्यपि ।
परेद्युरेषां गमयिष्यति ध्रुवं निजां तनूमिन्धनतां हविर्भुजः ॥ ६ ॥

किसी तपस्वी के दिये गये वरदान के कारण (उसी आशा पर) उसने इतने दिन बिताये, किन्तु परसों निश्चय ही वह अपने शरीर को जला डालेगी ॥ ६ ॥

सुतां निजां निश्चिततीव्रसाहसां विलोक्य भीमः सह पौरबन्धुभिः ।
निमज्ज्य शोकाम्बुनिधौ सुदुस्तरे तरीं विधातुं न किमप्यवेक्षते ॥७॥

कठिन साहस करनेवाली अपनी पुत्री को देख कर पुरवासियों सहित राजा भीम शोक सागर में निमग्न हैं उन्हें कोई (सहारा देने वाली नौका) दिखाई नहीं दे रही है ॥ ७ ॥

प्रभो पुरस्ते विनिवेदितं मया श्रुतं विदर्भाधिपतेर्गृहेषु यत् ।
अनन्तरं यत्तु विधेयमीक्षसे प्रमाणतां तत्र मनस्तवार्हति ॥ ८ ॥

विदर्भराज के नगर में मैंने जो कुछ सुना उसे आपसे निवेदन किया । इस के बाद जो कुछ करना हो उस का निर्णय करने में आप स्वयं समर्थ हैं ॥८॥

निवेद्य वृत्तान्तमिमं चरे गते नरेश्वरः प्रेक्ष्य मुखानि मन्त्रिणाम् ।
पुरं प्रयास्यन्नचिरेण कुण्डिनं निजासनार्धस्थितमाह बाहुकम् ॥ ९ ॥

इस वृत्तान्त को निवेदित कर दूत के चले जाने पर राजा ने अपने मन्त्रियों के मुखों को देखकर अर्द्धासन पर बैठे हुए बाहुक से राजा ने शीघ्र कुण्डिन नगर चलने को कहा ॥ ९ ॥

सतां विपत्तीरसतां च संपदः समीक्ष्य को नाम भृशं न दूयते ।
विशेषतः सत्यपि राजमण्डले विदर्भराजस्त्वमिहापरः सुहृत् ॥१०॥

सज्जनों की विपत्ति और दुष्टों की सम्पत्ति को देखकर भला किसे पीड़ा न होगी ? विशेषतः राजमण्डल के रहने पर भी विदर्भराज तो सर्वाधिक प्रिय मित्र हैं ॥ १० ॥

इतस्तु गव्यूतिशतद्वयं परं यियासुरेकेन दिनेन कुण्डिनम् ।
अजातपक्षेण खमुत्पतिष्यता शकुन्तशावेन गतोऽस्मि तुल्यताम् ॥११॥

चार सौ कोश पर स्थित कुण्डिन नगर में एक दिन में पहुँचना चाहता हूँ । यह इच्छा तो वैसी ही है जैसे पंख न निकले हुए पक्षिशावक का आकाश में उड़ने का प्रयास ॥ ११ ॥

तदद्य शोकेन विमूढचेतसं विलोकितुं तं सुहृदं समुत्सहे ।
तदेव सौहार्दमकृत्रिमं विदुर्न विक्रियां यद्विपदि प्रपद्यते ॥१२॥

आज मैं शोकाभिभूत अपने प्रिय मित्र को देखना चाहता हूं । स्वाभाविक स्नेह वही है जो विपत्ति में भी नहीं बदलता ॥ १२ ॥

रथस्थितं नेतुमिदं तु मां पुरं दिनेन दाक्ष्यं यदि लक्ष्यते तव ।
ऋतेऽरुणं कोऽन्वहमंशुमालिनं सुमेरुमावर्तयितुं प्रगल्भते ॥१३॥

रथस्थित मुझे उस नगर में एक दिन में पहुँचाने की क्षमता तुम में हैं । अरुण को छोड़कर कौन प्रतिदिन सूर्य के पीछे सुमेरु पर्वत की परिक्रमा की धृष्टता कर सकता है ? ॥ १३ ॥

कलासु लोकोत्तरकौशलो भवान्
भवादृशोऽन्योऽस्ति न कोऽपि सारथिः ।
न दुष्करं कर्म किमप्यभूत्तव
त्वया सनाथः खलु कोसलाधिपः ॥१४॥

कलाओं में आपकी निपुणता लोकोत्तर है। आपके समान दूसरा कोई सारथि नहीं। तुम्हारे लिए कोई भी कार्य कठिन नहीं है। यह कौशलाधिप तुम्हीं से सनाथ है॥ १४ ॥

इति ब्रुवाणस्य नृपस्य मन्त्रिणः समाहरंस्ते तुरगैर्युतं रथम् ।
न्यतर्कयद्यानवलोक्य बाहुकः पुरीं विदर्भा पुरतः स्थितामिव ॥१५॥

इस प्रकार कहते हुए राजा के मन्त्रियों ने घोड़े सहित रथ लाकर प्रस्तुत किया, जिसे देखकर बाहुक ने समझ लिया कि विदर्भ नगरी तो बस अब हमारे सामने ही है। ॥ १५ ॥

स बाहुकेनोपगृहीतरश्मिभिस्तुरंगमै रूढ़धुरं रथं स्थितः ।
पुरोधसा संभृतमङ्गलक्रियः पुरीं विदर्भामतिसत्वरं ययौ ॥१६॥

बाहुक से लगाम पकड़े गये घोड़ों से युक्त रथ पर वे बैठ गये। पुरोहित के द्वारा माङ्गलिक क्रियाओं के सम्पन्न किये जाने पर उन्होंने शीघ्र विदर्भ नगर की ओर प्रस्थान किया ॥ १६ ॥

तथा प्रणुन्नाः पथि बाहुकेन ते रयातिरेकं तुरगाः प्रपेदिरे ।
यथा तदीया अपि नेत्ररश्मयः पुरः प्रसर्तुं प्रभुतां न लेभिरे ॥१७॥

पथ पर बाहुक से संचालित घोड़े इतने अधिक वेगशील हुए कि उसकी आँखें भी सामने देख नहीं पा रही थीं ॥ १७ ॥

स बाहुकं स्यन्दनवाहने तथा विलोक्य लोकोत्तरपौरुषं नृपः ।
तमक्षलीलाहृदयं व्यचिन्तयत्ततः प्रपेदेऽश्वरयस्य वेदिताम् ॥१८॥

वह राजा रथ हाँकने में बाहुक के लोकोत्तर सामर्थ्य को देख कर उन्हें पहले द्यूत क्रीड़ा विशारद बाद में घोड़ों के वेग का वेत्ता समझा ॥ १८ ॥

ततोऽक्षलीलाहृदयं परीक्षितुं यदेव चक्रे पथि निश्चयं नलः ।
कलिस्तदैवास्य विहाय विग्रहं कृताञ्जलिर्वाचमिमामुदैरयत् ॥१९॥

रास्ते मे नल ने जैसे ही "अक्षलीला हृदय" की परीक्षा का निश्चय किया वैसे ही कलि इन्हें छोड़कर प्रकट हो हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला ॥ १९ ॥

सुखोचितौ शोकमहार्णवे चिरं न्यमज्जयत्त्वां च विदर्भजां च यः ।
महीपते पापकृतां पुरःसरं सुराधमं मां निगृहाण तं कलिम् ॥२०॥

सुख भोग करने योग्य तुम दोनों को जिसने शोक के महासागर में डुबाया, हे राजन् ! उसी सुराधम पाप करने वाला मुझे कलि को निगृहीत करो ॥ २० ॥

इति ब्रुवाणं करुणानिधिर्नलः कलिं समाश्वासयदुक्तिवैभवैः ।
वरैरभीष्टैः प्रतिनन्द्य तं च स प्रसन्नचेतास्त्रिदशालयं ययौ ॥२१॥

इस प्रकार कहते हुए कलि को करुणानिधान नल ने विभिन्न वचनों से समझाया । अभीष्ट वर प्रदान से उनका अभिनन्दन कर प्रसन्न होकर वह स्वर्ग चला गया ॥ २१ ॥

नलस्त्वयोध्यापतिना समं रथं मुहूर्तविश्रान्तहयं समाश्रितः ।
विदर्भजालोचनमङ्गलोदयं समर्थसंपन्नमिव द्रुतं ययौ ॥२२॥

अयोध्यापतिसहित रथ के घोड़ों को क्षण भर विश्राम दे दमयन्ती को देखने के लिए शीघ्र चले ॥ २२ ॥

विलङ्घयन्वर्त्म यथा यथा तदा पदे पदे सातिशयं रयं श्रितः ।
तथा तथौत्सुक्यवशादमन्यत प्रकामदूरं नगरं स कुण्डिनम् ॥२३॥

जैसे-जैसे मार्ग को पार करते हुए रथ तेजी से दौड़ रहा था, वैसे-वैसे उत्सुकतावश कुण्डिन नगर और दूर मालूम हो रहा था ॥ २३ ॥

अथास्तशैलोदरभाजि भास्करे सबाहुकस्तामविशत्पुरीं नृपः ।
दमस्वसुः शोकतरङ्गिणीरयं प्रकाशयन्तीं जनलोचनाम्बुभिः ॥२४॥

सूर्यास्त होते-होते बाहुक के साथ राजा ऋतुपर्ण ने दमयन्ती के शोक नदी के वेग को जनता के अश्रुविन्दुओं से प्रकाशित करने वाली पुरी में प्रवेश किया ॥ २४ ॥

विदर्भराजस्तु शुचापि विक्लवस्तमर्चयामास गृहानुपागतम् ।
सतां सपर्यासु परिच्युतादरं न जातु जायेत महात्मनां मनः ॥२५॥

विदर्भराज शोक से व्याकुल होने पर भी घर आये उनका स्वागत किया । महात्माओं का मन सज्जनों की पूजा करने में सम्मान का त्याग नहीं करता ॥ २५ ॥

ध्वनिर्यदा बाहुकवाह्यवाजिनो रथस्य भैम्याः श्रुतिगोचरं ययौ ।
तदैव तं प्रत्यभिजानती चिरादभून्नलोपागमशङ्किनी च सा ॥२६॥

बाहुक से हांके जाते हुए घोड़ों वाले रथ की ध्वनि जैसे ही दमयन्ती के कानों तक पहुँची वैसे ही पहचानती हुई वह नल के आने की संभावना करने लगी ॥ २६ ॥

ततः कथंचिद्धृतधैर्यबन्धना निवार्य बाष्पाम्बुतरङ्गिणीरयम् ।
सुखे च दुःखे च निजे निरन्तरां रहः सखीमित्थमुवाच भीमजा ॥

तदनन्तर किसी तरह धैर्य धारण कर आसुओं के वेग को रोककर सुख दुख में सदा साथ रहने वाली अपनी सखि से दमयन्ती बोली ॥ २७ ॥

अनुक्षणं केशिनि दक्षिणेतरं
यथेक्षणं स्पन्दितमातनोत्यधः।
अतीत्य शोकाग्निरयं दुरत्ययं
तथा मनो मे किमपि प्रसीदति॥ २८॥

हे केशिनि, निरन्तर बाँई आंख फड़क रही है। साथ ही इस कठिन शोकाग्नि वेग को हटाकर मेरा मन कुछ प्रसन्न सा हो रहा है॥ २८॥

तथाभिशङ्के फलबन्धनोन्मुखं
मुनेः प्रसादं करुणार्द्रचेतसः।
विमृश्य भाग्यं तु मदीयमीदृशं
ह्रियं सुभाविष्वपि हन्त संश्रये॥ २९॥

करुणार्द्र-चित्त मुनि की कृपा फलवती प्रतीत होती है। किन्तु अपने ऐसे दुर्भाग्य की याद कर किसी अच्छी चीज को सम्भावना मन में लज्जा उत्पन्न करती है॥ २९॥

तथापि मन्ये नलमत्र सारथिं
रथे ध्वनिर्यस्य भृशं विजृम्भते।
मरीचिजालेऽपि निदाघदीधिते-
र्विशङ्कते वारि मरुस्थलीमृगी॥ ३०॥

फिर भी जिस रथ की ध्वनि आ रही है उसका सारथी मैं नल को ही समझती हूँ। गर्मी में किरणों से उत्पन्न मरीचिका को हिरणी जल ही समझती है॥ ३०॥

तदाशु केशिन्युपगम्य सारथिः
क एष कस्येत्यवधार्यतां रहः।
इदं वयस्ये हतजीवितं मम
त्वदुक्तवार्तार्थविवेचनावधि॥ ३१॥

इसलिए हे सखि! तुम शीघ्र जाकर यह कौन है, किसका सारथी है, इसका एकान्त में पता लगाओ। हे सखि, तुम्हारी बातों को सुनने तक ही मेरे ये प्राण हैं॥ ३१॥

विनिश्चयार्थं निषधेशितुस्ततः
शशंस तस्यै पृथिवीन्द्रनन्दिनी।
अनन्यसामान्यममुष्य कौशलं
कलासु वृत्तं च वने यदप्यभूत्॥ ३२॥

दमयन्ती ने नल का पता लगाने के लिए उसे, कलाओं में उनके असाधारण कौशल एवं वन के वृत्तों को समझाया ॥ ३२ ॥

निशम्य संकेतगिरं दमस्वसु-
र्नितान्ततीव्रं सुविचिन्त्य साहसम् ।
अनुद्रवन्ती रथघोषमायतं
ददर्श सा कैतवबाहुकं नलम् ॥ ३३ ॥

दमयन्ती की संकेतबाणी समझ एवं साहस पर विचार कर रथ ध्वनि का पीछा करती हुई, बाहुक के रूप नल को देखा ॥ ३३ ॥

तथा तमाकारविकारशालिनं
विलोकयन्त्याः कुशलं कलासु च ।
सरिज्जलावर्तवशंवदेव नौ-
र्मतिस्तदास्याः सपदि भ्रमं ययौ ॥ ३४ ॥

विकृत आकार वाले एवं कलाओं प्रवीण उनको देखकर, नदी के भँवर में फँसी हुई नाव के समान उसकी बुद्धि भ्रम में पड़ गई ॥ ३४ ॥

ततोऽभ्युपायैर्विविधैः परीक्षितं
नलं विनिश्चेतुमलब्धवर्णया ।
निशम्य सख्याभिहितं रहोगतां
विदर्भजा तां पुनरित्थमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

विभिन्न उपायों से नल की परीक्षा कर वर्ण की भिन्नता से कुछ निश्चय न कर सकी । सखी से कही गयी इन बातों को सुन कर दमयन्ती ने उससे पुनः इस प्रकार कहा ॥ ३५ ॥

अहो विधातुः प्रतिकूलवर्तिता-
मपि प्रशान्तिं भजते न जात्वपि ।
यदेष भूयः प्रियसंगमाय मां
दुराशया योजयितुं समीहते ॥ ३६ ॥

विधाता की प्रतिकूलता मुझे कभी भी शान्ति लेने नहीं देती, जो यह पुनः प्रिय मिलन में बाधा डाल रही हैं ॥ ३६ ॥

मलीमसेयं दुरितैः क्व भीमजा
क्व चैष लोकैकललाम नैषधः ।
न लप्स्यते संगतिरेतयोः पुनः
कुहूनिशाशीतमयूखयोरिव ॥ ३७ ॥

कहां तो पाप कर्म से मलिन दमयन्ती और कहां विश्व के ललाम नल । दोनों का साथ चन्द्रमा और अमावस्या की रात के समान सम्भव नहीं है ॥३७॥

कुतोऽपि हेतोः कृतरूपवैकृतः
कथंचन स्याद्यदि नैषधोऽप्ययम् ।
कृपापराधीनतयापि मा ध्रुवं
तदा चिताग्नेर्विनिवारयिष्यति ॥ ३८ ॥

भले ही किसी कारण से नल ने अपना रूप बदल लिया हो फिर भी कृपा की पराधीनता से निश्चय ही मुझे चितागिन से बचा देंगे ॥ ३८ ॥

अदक्षिणत्वं मयि संश्रितं यथा
तथाप्यदः साहसमेव मे हितम् ।
प्रियेषु सौभाग्यसमुन्नतिच्युतिः
कुलाङ्गनानामपरा परासुता ॥ ३९ ॥

यदि मुझ पर कृपा नहीं भी हुई तब भी साहस करने में ही मेरा हित है । प्रिय के विषय में सौभाग्य की हानि तो कुलाङ्गनाओं को दूसरी मृत्यु है ॥३९॥

तदद्य शोकाग्निरयः सुदुःसह-
श्चिताग्निनापि प्रशमं प्रयातु मे ।
अतीतमन्त्रौषधिवीर्यमूर्जितं
विषं विषेणैव हि शान्तिमृच्छति ॥ ४० ॥

इसलिये आज शोकाग्नि भी चिताग्नि से शान्त हो जाय । मन्त्रौषधि के सामर्थ्य से भी दूर न होने योग्य विष विष से ही शान्त होता है ॥ ४० ॥

अलं विलम्बेन निशावसीयते
हुताशनं दीपय दीपयेन्धनैः ।
नलोपलाभाय भवान्तरेऽपि मे
भवन्तु भृत्याः सखि तस्य हेतयः ॥ ४१ ॥

अब विलम्ब करना निरर्थक है, रात बीत रही है, इन्धन से अग्नि को जलाओ । दूसरे जन्म में नल की प्राप्ति के लिए इसकी ज्वाला सेवक का काम करे ॥ ४१ ॥

सखि त्वमम्बा नृपतिः परोऽपि यः
समीहितं मे प्रतिहन्तुमीहते ।
स केवलं द्रक्ष्यति पञ्चतां मम
प्रपत्स्यते नेप्सितसिद्धिमात्मनः ॥ ४२ ॥

सखि तुम, मां, राजा या अन्य कोई भी मेरी इच्छा को नष्ट करना चाहते हों तो वे केवल मेरी मृत्यु ही देख सकेंगे, उनके मन की बात नहीं होगी ॥ ४२ ॥

तथेति तस्या वचनं दमस्वसु-
विंकृष्य तामप्यनिवार्यसाहसाम् ।
सबाहुके पश्यति पौरमण्डले
हुताशनं दीपयति स्म केशिनी ॥ ४३ ॥

दमयन्ती की उस प्रकार की बातें मानकर दृढ़ साहसी दमयन्ती को बाहुक सहित पुरवासियों द्वारा देखे जाने पर केशिनी आग जलाने लगी ॥ ४३ ॥

कृतप्रयत्नोऽपि विदर्भभूपतिः
सुतां निषेद्धुं न शशाक निश्चयात् ।
परासुतानैषधविप्रयोगयो-
द्वितीयमेषा हि विवेद दुःसहम् ॥ ४४ ॥

प्रयत्न करने पर भी विदर्भराज अपनी पुत्री को अपने दृढ़निश्चय से हटाने में समर्थ नहीं हुए । मृत्यु एवं नल के वियोग में उसने नल के वियोग को ही असह्य माना ॥ ४४ ॥

विलोलधम्मिल्लमपास्तभूषणं
विलुप्तमुक्तावलि लोचनाम्बुभिः ।
शुचोऽतिभारेण निपातिताः क्षितौ
विमुक्तकण्ठं रुरुदुः पुराङ्गनाः ॥ ४५ ॥

जूड़ा की चञ्चलता से मस्तक के अलङ्कार बिखर गये, आँखों के जल से मोतियों की माला लुप्त हो गयी, शोक को अधिकता से पृथ्वी पर गिरी हुई पुराङ्गनाएं जोर से रो पड़ीं ॥ ४५ ॥

अनारतं निर्गलदम्बुबिन्दुभि-
र्विलोचने सन्त्यर्पितमञ्जनादृते ।
तथाविधां वीक्ष्य दशां दमस्वसु-
र्बभूवुरन्यः सुदृशो विचेतसः ॥ ४६ ॥

निरन्तर आंसुओं के बहने से अंजन धुल गये । दमयन्ती की वैसी दशा देख कर दूसरों का चित्त भी व्याकुल हो उठा ॥ ४६ ॥

ततः प्रणम्याग्निमुदञ्चितार्चिषं
प्रदक्षिणं कर्तुमियं प्रचक्रमे ।
अतीत्य हाहेति रवं पुरौकसा-
मिदं वचः प्रादुरभूच्च नाकिनाम् ॥ ४७ ॥

तब इसने ऊपर उठती हुई ज्वालाओं वाली आग को प्रणाम कर प्रदक्षिणा का उपक्रम किया । उस समय हा हा के शब्द से भी अधिक ऊँची देवताओं की इस प्रकार की ध्वनि सुनाई पड़ी ॥ ४७ ॥

अलं नलप्रेयसि साहसेन ते
सुदुष्करेणाशुविनाशकारिणा ।
अनन्तरेऽस्मिन्क्षण एव ते प्रियः
प्रहीणशोकां भवतीं करिष्यति ॥ ४८ ॥

हे नल की प्रेयसि ! अब कठिन एवं शीघ्र विनाशकारी साहस न करो । अभी क्षण मात्र में ही तुम्हारा प्रिय आकर तुम्हारा शोक दूर करेगा ॥ ४८ ॥

उदेष्यता नैषधतिग्मतेजसा
विपन्मयी सा रजनी निराकृता ।
विजृम्भिता मोदभरं चिराय ते
विकासमभ्येतु मनःसरोरुहम् ॥ ४९ ॥

उदित होते हुए नल के तेज से विपत्तिमयी वह रात हट गई । प्रकट होते हुए आनन्ददाता से चिरकाल तक तुम्हारा मन कमल विकसित रहे ॥ ४९ ॥

पुरः पुरंध्रीकथनेन कीर्त्यतां
प्रपन्नया स्वैश्चरितैरनाविलैः ।
दिने दिने भीमजयाभिनन्दित-
श्चिराच्चिरं नैषध शाधि मेदिनीम् ॥ ५० ॥

पुरन्ध्री के कथन से अपने निर्मल चरित्र से कीर्त्तिलाभ करो । दिनों दिन दमयन्ती से अभिनन्दित हे नैषध, तुम चिरकाल तक इस पृथ्वी का शासन करो ॥ ५० ॥

त्वया सुधादीधितिवंशकेतन
क्षितिं सनाथामभिवीक्ष्य निर्वृताम् ।
द्विजाः पुनर्निष्प्रतिबन्धभीतयो
मुखैर्वितन्वन्तु मुदं दिवौकसाम् ॥ ५१ ॥

हे चन्द्रवंश श्रेष्ठ, तुमसे पृथ्वी को सनाथ देख बाधाओं से मुक्त हो कर ब्राह्मण फिर यज्ञों से देवताओं को प्रसन्न करें ॥ ५१ ॥

इदं निशम्य त्रिदशैरुदीरितं
क्षणं बभूव स्तिमितेव भीमजा ।
पिनद्धनागेन्द्रनिवेदिताम्बरः
स्वरूपतः प्रादुरभूच्च नैषधः ॥ ५२ ॥

देवताओं की इस प्रकार की बातें सुनकर दमयन्ती क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गई । सर्पराज के द्वारा दिये गये वस्त्र को धारण कर नल अपने रूप में प्रकट हुए ॥ ५२ ॥

ततः प्रमोदोत्तरलैः सुरैः कृते
प्रसूनवर्षे नभसः पतत्यधः ।
विजृम्भमाणो दिवि दुन्दुभिध्वनि-
र्नवाम्बुवाहस्तनितैस्तुलां ययौ ॥ ५३ ॥

तदनन्तर आनन्दित देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि हुई, स्वर्ग का दुन्दुभिनाद नवीन जलधाराओं के गरजने के समान हुआ ॥ ५३ ॥

उपेयुषोर्लोचनगोचरं चिरात्
प्रमोदजा बाष्पतरङ्गिणी तयोः ।
प्रवृद्धमन्तर्निरवासयद्द्रुतं
परस्परावीक्षणशोकपावकम् ॥ ५४ ॥

बहुत दिनों के बाद देखने पर उन दोनों के आनन्दाश्रु जल ने परस्पर न देखने से बढ़े हुए शोकानल को बुझा दिया ॥ ५४ ॥

ततो निदाघप्लवितेव मेदिनी
नवाम्बुवाहैर्विहिताभिषेचना ।
प्रशान्तसंतापभरा सुमध्यमा
प्रमोदजालं विदधे विदर्भजा ॥ ५५ ॥

तदनन्तर ग्रीष्म से तप्त पृथ्वी जैसे नवीन वर्षा के जल से अभिषिक्त हो कर ताप दूर करती है, उसी तरह संताप दूर कर दमयन्ती आनन्दित हुई ॥ ५५ ॥

अथ कथमपि दैवात्तीर्णदुःखार्णवं तं
पुनरपि दमयन्त्या संगतं वैरसेनिम् ।
शशिनमिव समेतं ज्योत्स्नया राहुमुक्तं
चिरतरमपि पश्यन्प्राप तृप्तिं न लोकः ॥ ५६ ॥

किसी प्रकार भाग्यवश दुःख के सागर को पार कर पुनः दमयन्ती को प्राप्त किये नल को देखकर लोग उसी प्रकार तृप्त नहीं हुए जैसे राहुमुक्त एवं ज्योत्स्ना से युक्त चन्द्रमा को देखकर लोग तृप्त नहीं होते ॥ ५६ ॥

तदनु भुजगदष्टं बाहुकत्वं विहाय
प्रकटितनिजरूपं नैषधं प्रेक्ष्य हृष्टः ।
द्रुततरमृतुपर्णस्तत्र सख्यं ययाचे
सहविहरणकाङ्क्षी सोऽपि तं प्रत्यनन्दत् ॥ ५७ ॥

तदनन्तर सर्प के काटने से (धारण किये) अपने बाहुकत्व रूप को छोड़कर अपने रूप में प्रकट नल को देख प्रसन्न ऋतुपर्ण ने उन से साथ रहने की इच्छा से मित्रता की याचना की । नल ने भी उन्हें आनन्दित किया ॥ ५७ ॥

वैदर्भराजसुतया सह वैरसेनि-
स्तत्रापि कान्यपि दिनानि मुदाध्युवास ।
मौलैः क्रमादुपगतैः सचिवैः स्वकीयैः
संख्यायमानसरणिर्निषधान्प्रपेदे ॥ ५८ ॥

दमयन्ती के साथ नल वहां कुछ दिनों तक रहे । फिर क्रमशः अपने कुलीन क्रमागत सचिवों के साथ निषध देश की ओर प्रस्थान किया ॥ ५८ ॥

मण्डलं निखिलमन्वरञ्जयत्
तापसंपदमुदाच्छिनद्भुवः ।
नैषधेन्दुरुदयन्विकस्वरं
पुष्करं तु सपदि न्यमीलयत् ॥ ५९ ॥

पृथ्वी के सम्पूर्ण मण्डल को अनुरञ्जित कर विश्व के ताप को दूर कर नैषध रूपी चन्द्रमा ने शीघ्र ही पुष्कर अर्थात् अपने भाई को (पक्ष में कमल को) बन्द कर दिया ॥ ५९ ॥

इत्थं निस्तीर्य कृत्स्नां विपदमुपगतं स्वां पुरं वैरसेनिं
सार्धं वृद्धैरमात्यैः प्रणतपदयुगं ह्रीमता पुष्करेण ।
निष्प्रत्यूहं प्रजानां मुदमुदयवतीमन्वहं निर्मिमाणां
भैमीं सान्द्रानुरागोत्तरलितहृदयां राजलक्ष्मीं च भेजे ॥६०॥

इस प्रकार सारी विपत्तियों को पार कर नगर में आये हुए वृद्ध अमात्यों के साथ लज्जित पुष्कर द्वारा प्रणाम किये जाते हुए नल ने दिनोंदिन प्रजाओं को आनन्द वृद्धि करने वाली दमयन्ती का एवं अनुराग पूर्ण हृदयवाली राजलक्ष्मी का सेवन किया ॥ ६० ॥

लक्ष्मीर्यावदलंकरोति हृदयं विष्णोर्नृसिंहाकृते-
र्यावद्विष्णुपदी च धूर्जटिजटाजूटान्तरे क्रीडती ।
कृष्णानन्दकवेः कपिञ्जलकुलक्षीरोदशीतद्युते-
स्तावत्काव्यमिदं तनोतु कृतिनामन्तःप्रमोदोदयम् ॥ ६१ ॥

इति श्रीसांधिविग्रहिकमहापात्रश्रीकृष्णानन्दकृतौ सहृदयानन्दे
महाकाव्ये नलचरिते निषधेन्द्रद्वितीयसाम्राज्यलाभो
नाम पञ्चदशः सर्गः ।

जबतक लक्ष्मी नृसिंह रूपधारी विष्णु के हृदय को अलङ्कृत करती हैं

और जब तक गङ्गा शिव की जटा में खेलती हैं तब तक कपिञ्जल कुल रूपी समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा के समान कृष्णानन्द कवि का यह काव्य सज्जनों के अन्तःकरण में आनन्द देता रहे ॥ ६१ ॥

श्री सांधिविग्रहिक महापात्र श्री कृष्णानन्दकृत सहृदयानन्द महाकाव्य में नल चरित्र में "निषधेन्द्र द्वितीय साम्राज्य लाभ" नामक पञ्चदश सर्ग समाप्त हुआ ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

हमारे कतिपय नवीन प्रकाशन

पुस्तक	मूल्य
ऋग्वेदसंहिता । सायणभाष्य सहित । सं० मैक्समूलर, १-४ भाग	१४०—००
काव्येन्दुप्रकाशः । सम्पादक-श्री बाबूलाल शुक्ल	३—००
कृष्णभक्तिकाव्य में सखीभाव । श्री शरणबिहारी गोस्वामी	२५—००
चतुर्वेदीयसंस्कृतरचनावली । (म० म० गिरिधरशर्मा निबन्धावली)	२०—००
जैनन्यायखण्डखाद्यम् । विमर्शाख्य हिन्दी व्याख्या सहित	८—००
परमतत्त्वमीमांसा (गतिप्रशिक्षशास्त्रम्) श्रीकृष्ण जोशी	४—५०
जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज । डॉ० जगदीशचन्द्र जैन	२५—००
पुरुषार्थ । डॉ० भगवानदास भारतरत्न (द्वि० संस्करण)	१२—५०
भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार । डॉ० भोलाशंकर व्यास	८—००
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः विंशतिकारिकावृत्तिश्च । हिन्दी व्याख्या सहित	६—००
वैदिक साहित्य की रूपरेखा । प्रो० राजहंस अग्रवाल	२—००
संस्कृत साहित्य में मौलिकता एवं अनुहरण । उमेशप्रसादरस्तोगी	८—००
हिन्दी भामिनीविलास—व्याख्याकार-श्री राधेश्याम मिश्र (संपूर्ण)	१०—००
गौतमधर्मसूत्राणि—हिन्दी व्याख्याकार-श्री उमेशचन्द्र पाण्डेय	१०—००
नलोपाख्यानम्—हिन्दी व्याख्याकार-श्री काशीनाथ द्विवेदी	२—००
शुकसप्ततिः—हिन्दी व्याख्याकार-श्री रमाकान्त त्रिपाठी	१०—००
काव्यालंकारः—रुद्रटप्रणीतः । हिन्दी व्याख्याकार-पं० रामदेव शुक्ल	१०—००
याज्ञवल्क्यस्मृतिः 'मिताक्षरा' तथा 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । आचाराध्याय ४—०० सम्पूर्ण	२०—००
वेदकालीन समाज—डा० शिवदत्त जोशी	२५—००
हिन्दी नलचम्पू—व्याख्याकार कैलाशपति त्रिपाठी	११—००
बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था । डा० राघवेन्द्र वाजपेयी	१०—००
मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन । डा० शिवशेखर मिश्र	२५—००
वाल्मीकिरामायणकोश । डॉ० रामकुमार राय	२०—००
महाभारतकोश । डॉ० रामकुमार राय । १-२ भाग	४०—००
राजतरङ्गिणी कोश । डा० रामकुमार राय	१५—००
काव्यात्ममीमांसा । डॉ० जयमन्त मिश्र	१६—००
संस्कृत भाषा । (टी० बरो) अनु० भोलाशंकर व्यास	३०—००
हिन्दी ध्वन्यालोक । (लोचन सहित) आचार्य जगन्नाथ पाठक । संपूर्ण	१६—००
प्रतिभादर्शन या भाषातत्त्व शास्त्र । आचार्य हरिशंकर जोशी	२५—००
भारतीय इतिहास-परिचय । डॉ० राजबली पाण्डेय	१०—००
संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास । मूललेखक—कृष्णचैतन्य	२०—००
संस्कृत सुकवि समीक्षा । आचार्य बलदेव उपाध्याय	२०—००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१